वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० १ | जनवरी-मार्च १९८५

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	आदिनाथ जिन-स्तवन	१
२.	यह कैसा अपरिग्रहवाद है ? —डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ	२
३.	पं० शिरोमणिदास की द्वादसानुप्रेक्षा —श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	६
४.	पं० अभ्रदेव कृत श्रवण द्वादशी कथा —श्री प० रतनलाल कटारिया, केकड़ी	९
५.	मेघदूत और पार्श्वाभ्युदय—श्री कपूरचन्द जैन, खातोली	११
६.	तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं —श्री नरेश कुमार पाठक	१४
७.	उत्तम ब्रह्मचर्य : एक अनुशीलन —डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' श्री महावीर जी	१६
८	आधुनिक युग मे जैन सिद्धान्तों का महत्त्व —कुमारी डा० सविता जैन	२१
९.	श्रुत स्वाध्याय का फल—पुण्याश्रव कथा कोश से	२३
१०.	तीर्थंकर महावीर और अपरिग्रह— —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२५
११.	अपरिग्रह और उत्कृष्ट ध्यान - श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२८
१२.	जरा सोचिए—सम्पादक	३३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विद्वानों के आशिष

श्री पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री :

'अनेकान्त' अच्छा निकल रहा है। सामग्री भी उसमें यथेष्ट रहती है। इसी प्रकार से जितने भी शोध-खोज पूर्ण लेख उसमें समाविष्ट हो सकें अच्छा है। मैं 'अनेकान्त' के उत्कर्ष को चाहता हूं।

डा० कस्तूरचन्द्र जैन काशलीवाल :

'अनेकान्त' को नियमित एवं शोधपूर्ण सामग्रीयुक्त देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। उसकी सामग्री, सम्पादन, प्रिंटिंग सभी में निखार आया है और अब उसे किसी भी विद्वान् के हाथों में दिया जा सकता है। जैन-साहित्य, संस्कृति एवं कला पर शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए 'अनेकान्त' महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अगले अंक से मैं भी अपना निबन्ध भेजना चाहूंगा। भविष्य में 'अनेकान्त' पत्र देश-विदेश में और भी लोकप्रिय बने ऐसी मेरी हार्दिक कामना है।

डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर :

'अनेकान्त' दिगम्बर जैन समाज में अपने प्रकार का विशिष्ट पत्र है। इसके 'जरा सोचिए' 'विचारणीय प्रसंग' आदि स्तम्भ मन की गहराई को छू लेते हैं। अनेकान्त के निरन्तर उन्नयन हेतु मेरी शुभ कामनाएँ प्रेषित हैं।

स० सि० श्री धन्यकुमार जैन, कटनी :

'अनेकान्त' मिला। निर्भीकता, स्पष्टवादिता एवं स्वच्छ आगम-सम्मत रीति-नीति के लिए विशेष धन्यवाद स्वीकार करें।

प्रिंसिपल श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली :

'आगम विपरीत प्रवृत्तियां' पढ़ा, मंगलकलश, धर्मचक्र प्रवर्तन, ज्ञान-ज्योति, सेमीनारों, कान्फ्रेंसों, अभिनन्दनों आदि को अच्छा खींचा है सो खुशी हुई। पर, समाज के कानों पर जू रेंगती है क्या ? वही 'ढाक के तीन पात' वाली बात है ! समाज जड़ और मदान्ध हो रहा है।

डा० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य :

'आप निर्भय होकर लिखिए, अच्छा और स्पष्ट लिखते हैं। यह अवश्य है कि जिन विद्वानों की गलती से गलत परम्पराएँ या प्रवृत्तियां चल पड़ती हैं और जिन्हें हम जानते हैं, उनके नाम लिखने मे भय खा जाते हैं। आज उन्ही के कारण (सूर्यकीर्ति-मूर्ति-स्थापन जैसी) यह दुःखद स्थिति बनी।

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०, दिल्ली :

आपने 'मूल-संस्कृति-अपरिग्रह' पर अपने विचार बहुत ही स्पष्टता से प्रगट किये है जो मन पर प्रभाव छोड़ते है। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक पर प्रसंगतः स्पष्ट ढंग से प्रकाश डाला है। आगम-विपरीत प्रवृत्तियां ऐसा विषय है जिस पर अनेकान्त में आपके विचार आने ही चाहिए थे। जो व्यक्ति इस प्रकार की मूर्ति के निर्माण की बात करते हैं उनकी दृष्टि घोर मिथ्यात्व की है ही. प्रवृत्ति भी गर्हित है। आपने शोध-खोज शीर्षक आध्यात्मिक आयाम दिया यह भी विचारने की बात है।

सूचना :— वीर सेवा मन्दिर, सोसायटी की साधारण सदस्यता का पिछला व आगामी वर्ष का सदस्यता-शुल्क जिन सदस्यों ने नही भेजा है उनसे आग्रह है कि वे सदस्यता-शुल्क अविलम्ब भेज दें। संस्था का आर्थिक वर्ष जून मे समाप्त होता है।

सुभाष जैन : महासचिव
वीर सेवा मन्दिर सोसायटी,
२१, दरियागंज, नई दिल्ली–२

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३८ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० सं० २०४२ | जनवरी-मार्च १९८५

आदिनाथ-जिन-स्तवन

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसुनुर्महात्मा
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरिपरिगतो राजतिस्मोग्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहु दहतादूरमौदास्यवात—
स्फूर्जत्सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ।।१।।

—पद्मनन्द्याचार्य

काउसग्ग मुद्रा धरि वनमें ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी ।
निहिचल अंग मेरु है मानो दोऊ भुजा छोर जिनि दीनी ।
फँसे अनन्त जन्तु जग-चहले दुखी देख करुणा चित लीनी ।
काढ़न काज तिन्हें समरथ प्रभु, किधों बांह ये दीरघ कीनी ।।

—भूधरदास

अर्थ—कायोत्सर्ग के निमित्त से जिनका शरीर लम्बायमान हो रहा है, ऐसे वे नाभिराय के पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें, जिनके ऊपर प्राप्त हुआ मध्यान्ह (दोपहर) का तेजस्वी सूर्य ऐसा सुशोभित होता है मानो कर्मरूप ईन्धनों के समूह को अतिशय जलाने वाली एवं उदासीनतारूप वायु के निमित्त से प्रगट हुई समीचीन ध्यान रूपी अग्नि की देदीप्यमान चिनगारी ही उन्नत हुई हो ।

विशेषार्थ—भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र की ध्यानावस्था में उनके ऊपर जो मध्यान्ह काल का तेजस्वी सूर्य आता था उसके विषय में स्तुतिकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह सूर्य क्या था मानों समताभाव से आठ कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के इच्छुक होकर भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र द्वारा किये जाने वाले ध्यानरूपी अग्नि का विस्फुलिंग ही उत्पन्न हुआ है । □□

यह कैसा अपरिग्रहवाद है ?

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

नोट : डा० सा० इतिहास के ख्याति प्राप्त प्रकाण्ड मनीषी हैं। अनेकांत के हर अङ्क को उनका आशीर्वाद लेख के रूप में प्राप्त होता है। गत अङ्क में 'पट्ट महादेवी सान्तला' कृति पर आपका समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हुआ था। समीक्षा इतनी प्रभावक रही कि कृतिकार श्री सी० के० नागराजन् बैंगलोर से जब लखनऊ डा० साहब के घर उन्हें बधाई देने पहुंचे। उन्होंने डा० साहब का आभार निम्न शब्दो मे प्रकट किया। 'उत्तर भारत मे कर्नाटक के इतिहास एवं सस्कृति साहित्य आदि के विषय मे कोई इतना जानता होगा इसका मुझे अनुमान नही था, आदि।'

—सम्पादक

सहयोगी बन्धु श्री पद्मचन्द्र शास्त्री अनेकान्त के विगत कई अकों (३७/१ पृष्ठ-३१-३२, ३७/३ पृष्ठ-२३-२४, पृष्ठ-२६-२१) मे अपरिग्रहवाद पर विशेष बल देते आए हैं। उनकी धारणा है कि जैन परम्परा मे अहिंसा पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है और उसके पीछे, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण अपरिग्रह को, जो मूल जैन सस्कृति का प्रतीक है, प्रायः भुला दिया गया है। कम से कम अधुना जैन धर्मावलम्बियो के आचार-विचार एव व्यवहार मे ऐसा ही चरितार्थ हो रहा है। पण्डित जी का यह विचार यदि पूर्णतया नहीं तो, अनेक अशों मे सत्य प्रतीत होता है।

आत्मा की विभाव परिणति स्थूल रूप से हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह रूपी पांच पाप प्रवृत्तियो के रूप मे मुखरित होती है। सप्त-व्यसनादि का सेवन, नानाविध अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, शोषण, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, घृणा, मात्सर्य, बैर, विरोध, उच्छृङ्खलता आदि उसी के प्रतिफल हैं। इन समस्त कुप्रवृत्तियों के मूल में प्राणी की वह पर्याय-सम्बन्धी दैहिक एवं भौतिक आसक्ति है जो उसे आत्मस्वरूप या आत्मधर्म से विमुख करके बहिर्मुखी, बहिरातम, परावलम्बी एवं पराधीन बना देती है। इसके विपरीत, निर्ग्रन्थ श्रमण या जिन धर्मसाधना का प्रधान एवं परम लक्ष्य **वीतरागता**, समत्व तथा शुद्धात्मोपलब्धि है, जो सच्चे, स्वाधीन, शाश्वत, निराकुल सुख, ब्रह्मानन्द या परमात्मानन्द का प्रतीक है। और इसका अनिवार्य उपाय उपरोक्त पाप प्रवृत्तियो का सम्यक् निरोध है।

ये सभी कुप्रवृत्तियां एक दूसरी की पूरक एव पोषक हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के भेद से किसी मे किसी एक का, किसी में किसी दूसरी का प्राबल्य या आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अल्पाधिक रूप में प्रायः सभी परस्पर सहयोगिनी हैं और साथ-साथ ही रहती हैं। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति में सच्चे अर्थों मे धर्माभिरुचि जागृत हो जाती है, तो वह इन पाप प्रवृत्तियों को हेय एव त्याज्य समझने लगता है, और परिणामस्वरूप उनके निरोध या उच्छेद के लिए प्रयत्नशील भी हो जाता है। यदि वह इन पांचों में से किसी एक से भी मनसा-वाचा-कर्मणा निवृत्त होने का प्रयास करने लगता है तो शनैः शनैः शेष चारों से भी निवृत्त होने लगता है। पूर्णतया अहिंसक आत्मा में सत्य, अस्तेय, शील या ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की प्रतिष्ठा स्वत हो जाएगी। इसी प्रकार पूर्णतया अपरिग्रही आत्मा में भी शेष चारो गुण स्वतः प्रकट हो जाएंगे।

परन्तु आज तथाकथित जैनों में, चाहे वे दिगम्बर तेरहपंथी, बीसपंथी, तारणपंथी, कान्हजीपंथी, या श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरापथी अथवा कोई अन्य भी हों प्रायः सभी मे दिनोदिन वृद्धिगत ऐहिक आसक्तियों का **मोह-मायाजाल** चतुर्दिक दृष्टिगोचर है। कितना ही अध्यात्मवाद झोंकें, कितना ही तत्वज्ञान बघारें, कितने ही शास्त्रज्ञ, क्रियाकांडी या भक्त बनें, आबालवृद्ध गृहस्थ स्त्री-पुरुष हों, अथवा साधु-साध्वी आदि किसी भी

श्रेणी के त्यागी वर्ग हों, अधिकांश में ऐहिक स्वार्थ, मान, लोभ एवं अहंमन्यता का पोषण, आत्मब्रह्मदर्शन, आत्म-विज्ञापन, पाखण्ड और आडम्बर का अतिरेक बहुधा दिखाई पड़ता है। और इस सबका मूल कारण है—धर्मतत्व की या वस्तुस्वरूप की अनभिज्ञता अथवा सही पकड़ न होना। साथ ही, ऐहिकस्वार्थ, मोह-मूर्च्छा, विषयासक्ति, अहंभाव, और क्रोध-माया-मान-लोभादि कषायों के पोषण की ललक। सामूहिक रूप से यही मिथ्यात्व है, अधार्मिकता है, नास्तिकता है।

ऐसी मिथ्या मनोवृत्ति का ही प्रताप है कि जीवन में अपने व्याख्यानो एव प्रवचनो मे अध्यात्मवाद को सर्वोपरि ही नही, एकमात्र महत्त्व देने वाले तथा 'सद्गुरुदेव' उपाधि से विभूषित महानुभाव के निधन के तुरन्त उपरान्त उनकी गद्दी की उत्तराधिकारिणी उनकी प्रिया शिष्या एवं कतिपय अन्य भक्तो ने उन्हें तीर्थङ्कर ही घोषित कर दिया, भले ही भावी हो और सर्वथा कल्पित 'सूर्यकीर्ति' नाम से उनकी प्रतिमाएँ भी बनवा डाली तथा उक्त प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराकर जिन मन्दिरो मे विराजमान करना भी प्रारम्भ कर दिया।

यह घोर मिथ्यात्व कैसे पनप सका, इसका कारण हमे तो ऐसा लगता है कि उक्त तथाकथित 'सद्गुरुदेव' जैन अध्यात्म के अपने आविष्कार से इतने अभिभूत होगए कि वह यह भूल गए कि उस अध्यात्म विद्या को सम्यक् रूप से आत्मसात् करने के लिए सर्वप्रथम चारों अनुयोगो के मूल शास्त्रीय ज्ञान का अवगाहन अत्यावश्यक है। उसकी उपेक्षा की और द्रव्यानुयोग के भी दार्शनिक एवं नैयायिक अगों को छोड़कर केवल उसके चरमांश अध्यात्म को ही पकड़ कर बैठ गए। कर्मसिद्धान्त की सुदृढ़ नीव पर निर्मित जैन सिद्धान्त एवं तत्वज्ञान की सम्यक् पकड़ के बिना निरा अध्यात्मवाद बहुधा प्रमादियो का शब्द विलास बनकर रह जाता है। मूल सिद्धान्त की वह पकड़ उन्हें होती तो उन्हे स्वय को तथा उनके अनन्य भक्तो को इस प्रकार की सिद्धान्त-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध, आम्नाय-विरुद्ध, पर्यायबुद्धिजन्य, अविवेकपूर्ण कल्पनाओं के लिए अवकाश ही नही होता। सुना तो यह भी गया है कि गुरुदेव की सम्पत्ति एव ट्रस्ट के एक प्रमुख स्तम्भ का यह कहना है कि "हमने दिगम्बरों से उनकी आम्नाय थोड़े ही ली है—हमने तो केवल उनका तत्वज्ञान लिया है।" घोर गुरुडमवादी, पंथवादी तथा परिग्रहवादी मनोवृत्ति के प्रतीक इस कथन पर कोई भी टीका-टिप्पणी अनावश्यक हो जाती है।

एक बार एक जैनेतर मनीषी से, जो अच्छे भगवद्भक्त भी थे, एक मित्र ने पूछा "भक्ति के अमृतसागर को त्याग कर आप वेदान्त के झाड़-झखाड़ मे क्यो घुस पड़े?" तो उन्होंने उत्तर दिया—'वेदान्त इसीलिए पढ़ रहा हूं जिससे भक्ति शास्त्र मे दृढ़ विश्वास हो जाए।" यह तो एक दृष्टान्त है जो एकागी अध्ययन-मनन एव मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। वास्तव मे, जैसा कि हम पहिले भी कई बार सकेत कर चुके हैं, चारों अनुयोग एक दूसरे के पूरक हैं। चारों का ही शुद्धाम्नायानुसारी यथावश्यक सम्यक् अध्ययन-मनन करने से ही दृष्टि समीचीन बन सकती है। निश्चय सम्यक्त्व की बात फिलहाल छोड़ भी दें, तो व्यवहार सम्यग्दर्शन, धार्मिक क्षेत्र मे समीचीन दृष्टि, और सद्-असद् या हेयोपादेय विवेक प्राप्त या जागृत करने के लिये वैसा करना एक धार्मिक जन के लिए धर्मपार्ग में अग्रसर होने का प्रथम सोपान है। तभी जो कुछ और जितना बन सके सयम या चारित्र का अभ्यास स्वत. होता जायेगा, और वह भी समीचीन ही होगा।

वस्तुत: जब और जहां ऐसा होता है, वही अपरिग्रह महाव्रत के धारी मुनि-आर्यिका आदि नानाविध अन्तरग एव बहिरग परिग्रहों से घिरे दिखाई नही पड़ते, वे अपनी मूर्तिया निर्माण कराके जिन प्रतिमाओ के साथ प्रतिष्ठित नही करवाते, अपनी जयन्तियो के मनवाने, उपाधिया बटोरने, अभिनन्दन ग्रथो या पत्रो को लेने देने तथा किसी प्रकार के भी चन्दे-चिट्ठे कराने के चक्कर मे नही पड़ते। परिग्रह-परिमाण के रूप मे व्रत का एकदेश अभ्यास करने वाले गृहस्थ स्त्री-पुरुष भी सच्चे अर्थों मे स्वय को तथा दूसरो को दु.खकर अपनी ऐहिक-दैहिक आसक्तियों को उत्तरोत्तर कम करने कराने मे प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे धार्मिक जनो से ही वीतराग जिनेन्द्र की भक्ति एव उपासना भी निष्काम, अर्थात् फल की वाछा से सर्वथा

(शेष पृ० ४ पर)

पंडित शिरोमणि दास जी की द्वादशानुप्रेक्षा

❑ कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

अनेकान्त के गतांक अक्तूबर-दिसम्बर ८४, वर्ष ३७ किरण ४ मे पं०शिरोमणि दास और उनकी धर्मसार सतसई पर मेरा निबन्ध प्रकाशित हुआ था जिसमे मैंने ग्रंथकार और ग्रंथ के विषय में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया था। उसी ग्रंथ में कवि ने बारह भावनाओ का सुन्दर वर्णन किया है जिन्हें अविरल प्रस्तुत कर रहा हूं।

यद्यपि बारह भावनाओ का जैन शासन मे बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है इसी लिए आचार्य कुन्द कुन्द ने प्राकृत मे, आचार्य शुभ चन्द्र ने संस्कृत मे, वीर कवि ने अपभ्रंश में तथा हिन्दी में तो अनेकों कवियों ने बारह भावनाओ की रचना की है।

प्रस्तुत बारह भावनाएं सर्वथा अप्रकाशित और अनुपलब्ध हैं। इनमे बुन्देलीभाषा का प्रभाव होने से इनकी मधुरता और अधिक बढ़ गई है तथा हिन्दी की बारह भावनाओ मे एक कड़ी और जुड़ गई है जो तत्वज्ञान से भरपूर है।

(पृ० ३ का शेषांष)

अछूती-भक्ति के लिए ही भक्ति बन पाती है। तब कतिपय तीर्थ क्षेत्रों पर मनौतियों द्वारा सच्चे-देव का अवर्णवाद करने वाले झूठे भक्तों, कुदेव-कुदेवियो की पूजा-उपासना करने वाले अन्ध-श्रद्धालुओं और गण्डे-तावीज, मन्त्र-यन्त्र के लालच मे तथाकथित चमत्कारी महाराजों और माताओं की भाव-विभोर भक्ति प्रदर्शित करने वाले अन्ध-विश्वासी स्वार्थियों की भीड़ भी नही जुटती।

खेद है कि इस तथ्य में किसी की आस्था है, ऐसा लगता नही। यह घोर परिग्रहवाद का ही परिणाम है। **कहने में हम अपरिग्रह के उपासक और साधक हैं, किन्तु अपनी मनोवृत्ति तथा जीवन व्यवहार में परिग्रहवाद से ओत-प्रोत हैं। तो मूल जैन संस्कृति से तो हमने स्वयं को बहिष्कृत ही किया हुआ है।**

—चारबाग, लखनऊ

आशा है सुधी पाठक गण इनका रसास्वादन कर अध्यात्म मार्ग पर पग धरने का सतत् प्रयास करेंगे, इसी में अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

दोहा—तहां ध्यान मुनि दृढ धरैं, कर्म क्षय निज हेत।
द्वादश अनुप्रेक्षा चिंतवैं, सुवर्णन करौं सुचेत॥

अथ अध्रुवानुप्रेक्षा/चौपाई

धन यौवन नारी सुख नेह, पुत्र कलत्र मित्र तनु एह।
रथ गज घोड़े देश भण्डार, इन्हें जात नही लागत वार॥
जैसे मेघ पटल क्षण क्षीण, तैसे जानो कुटुम्ब सगुदीन।
जल सयोग आम (कच्चा) घट जैसो, सकल भोग विधि जानहु तैसो॥

दोहा—जो उपजै सो त्रिनसई, यह देखो जगरीति।
अध्रुव सकल विचारिकै, करहु धर्म सौं प्रीति॥
इति अध्रुवानुप्रेक्षा॥१॥

अथ अशरणानुप्रेक्षा/चौपाई

जैसे हिरण सिंह वश पर्यो, तैसे जीवन काल ने धर्यो।
कोऊ समर्थ नही ताहि बचावै, कोटि यत्न करि जो दिखरावै॥
मन्त्र तन्त्र जे औषधादि घनी, बल विद्या ज्योतिष अति गुनी।
ए सब निष्फल होहि विशाला, जब जीव आनि परै वश काल॥

दोहा—इन्द्र चक्री हरि हर सबै, विद्याधर बलवन्त।
काल पाश तें ऊपरो सुको किहु रक्षहिं अन्त॥
इति अशरणानुप्रेक्षा॥२॥

अथ संसारानुप्रेक्षा/चौपाई

द्रव्य क्षेत्र पुनि काल जु आनि भव अरु भाव जु तही बखानि।
यह संसार पंच विधि कहीजै, जीवन मरण जीव दुख लीजै॥

समय अनंतानंत जु लए, अनंत काल तंह पूरण भए।
समय एक कहु बचऊ न तीव, जामन मरण लही नही जीव ॥
दोहा—जिन तें बहु सुख पाइए, ते भए दुख को रूप।
परावर्तन बहु पूरियो, यह संसार स्वरूप ॥
इति संसारानुप्रेक्षा ॥३॥

अथ एकत्वानुप्रेक्षा/चौपाई

एकाकी होइ चहुंगति फिरै, काहु को कोऊ सग न धरै।
मरहि अकेलो ऊपजै प्राणी, सुख दुख भुगतै एकहु जानी ॥
जो जैसी करनी उपजावै, सो तैसो फल एकऊ पावै।
अपने अपने स्वारथ मिले, दूसरों साथ न कोऊ चले ॥
सोरठा—एकाकी जीव जानि, दूजो कोऊ न जानि जै।
धर्म दया मन आनि, सो अपनो करि मानि जै ॥
इति एकत्वानुप्रेक्षा ॥४॥

अथ अन्यत्वानुप्रेक्षा/चौपाई

मातापिता पृथक् विधि लए, बांधव पुत्र अन्य हित किए।
कुटुम्बस्वभाव अन्य हित होई, नारी अन्य मिली पुनि सोई ॥
चहु गति आय इकट्ठे भए, अपनी अपनी गति पुनि गए।
जैसे हाट लगै विधि जोग, स्वारथ भए रहै नही लोग ॥
दोहा—इन्द्रिय देह जु जीव इह, एक स्वभाव न जानि ॥
अवर कहों ते एकता, यह अन्यत्व बखानि।
इति अन्यत्वानुप्रेक्षा ॥५॥

अथ अशुचि अनुप्रेक्षा/चौपाई

शुक्र रुधिर तें उपजै देह, मांस हाड़ मल मूत्र जु गेह।
कृमि अनेक उपजै दुर्गंधि, चर्म नसा दीसै पट बन्ध ॥
उपमा अनेक जे चिखई ठानै, करि तह मोह महा सुख ठानै।
जैसे विष वल्ली दुख देह, तैसे जानि शरीर सुख नेह ॥
दोहा—चन्दन केशर अगर शुभ, पुष्प वस्त्र घनसार।
तन सगत के होत ही, छिन में होत असार ॥
इति अशुचि अनुप्रेक्षा ॥६॥

अथ आश्रव अनुप्रेक्षा/चौपाई

करनी जब शुभ अशुभ जु साधै, पुण्य पाप तब आश्रव बांधै।
जीव परिणाम कर्म संयोग, भावाश्रव यह जानहु लोग ॥
मिथ्यात्व पच पन्द्रह प्रमाद, द्वादश अव्रत गणहु विषाद।
कषाय पच्चीस मिलै संयोग, यह द्रव्याश्रव जानहु लोग ॥
दोहा—सच्छिद्र नाव जल में रहे, जल आवै चहुं ओर।
तैसें आश्रवद्वार तें, कर्म बंध को ओर ॥
इति आश्रवानुप्रेक्षा ॥७॥

अथ संवरानुप्रेक्षा/चौपाई

जीव परिणाम वहै शुभ चेत, भावाश्रव रोधन के हेत।
यह जु भावसंवर है अभइ (य), द्रव्यसंवर पुनि सुनिजै राय ॥
पंच पंच व्रत समिति कहीजै, गुप्ति तीन दश धर्म लहीजै।
बाईस परीषह कहिजै भारी, अनुप्रेक्षा द्वादश हितकारी ॥
दोहा—छिद्र नाव जल देखि कै, डाटे रचै जो कोई।
तैसे आश्रव द्वार को, रोधै सवर सोई ॥
इति संवरानुप्रेक्षा ॥८॥

अथ निर्जरानुप्रेक्षा/चौपाई

सकल कर्म क्षय कारण हेत, भाव निर्जरा कहो सुचेत।
सकल कर्म क्षय कीन्हें, जबही, द्रव्य निर्जरा जानहु तबहीं ॥
कर्म उदय जब पूरण होय, सो सविपाक निर्जरा सोय।
उदय बिना जो कर्म नशावै, अविपाक निर्जरा सोई कहावै ॥
सविपाक सब जीवन होई, अविपाक मुनि साधै सोई।
सवर सहित जो निर्जरा करै, सो परमातम पद को धरै ॥
दोहा—संवर सहित जो निर्जरा, तप करि साधै संत।
संवर विना जुत तप करै, सो अज्ञानी अत ॥
इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥९॥

अथ लोकानुप्रेक्षा/चौपाई

अनंतानंत जु लोकाकाश, तामे लोक अनंत है बास।
अनादि निधन यह लोक बखानि, न कोऊ कर्ता हर्ता जानि ॥
अधो लोक सरवा आकार, मध्य लोक झालरि सम ढार।
मृदंग समान जु ऊरध लोक, अवतर अनेक भेद बहु थोक ॥
दोहा—तेतालीस अरु तीन सौ, राजू गिरदा (चौकोर) जानि।
चौदह राजु उच्चित्त (उतंग) है, इह विधि कहों बखानि ॥
इति लोकानुप्रेक्षा ॥१०॥

अथ धर्मानुप्रेक्षा/चौपाई

दुर्गतितै काढ़े धरि बांह (हाथ) सो यह धर्म कल्पतरु छांह।
मुक्ति नगर को थापै राज, सो दश भेद कहे जिन राज ॥
समकित सहित करनी मन लावै, सो यह निर्मल धर्म कहावै।
(शेष पृ० १० पर)

पं. अभ्रदेव कृत 'श्रवण द्वादशी कथा'

□ श्री मिलापचंद रतनलाल कटारिया, केकड़ी

प्रणम्य परमं ब्रह्म केवलज्ञान गोचरं ।
वक्ष्ये भव्य प्रबोधाय, श्रवण द्वादशी कथां ।१।
जम्बूद्वीपो महारम्यो, भरत क्षेत्रमुत्तमं ।
अवंती विषयस्तत्र, सजातोज्जयिनी पुरी ।२।
राजा तत्र नर ब्रह्मा, राज्ञी विजयवल्लभा ।
तस्याः शीलमती पुत्री, काण खुंजा च कुब्जको ।३।
पुत्री शीलमती नक्ता वकाषी द्रोदनं मुहुः ।
भणित्वेति तपः कार्यं जातं कर्म ममेदृश ।४।
सुतां शरीरमालोक्य जननी दुःखतां गता ।
अपश्यती स्वकीयस्यापरापस्य भवस्थितिः ।५।
मालाकारिकया प्रोक्त, तत्पुरस्तात्समासतः ।
वने स्वामिनि ! दिव्यागः स्वागतो मुनिपुंगवः ।६।
राज्ञ्यापि मालिनी योग्य सन्मान दानपूर्वकम् ।
प्रदत्तं जैन धर्मस्य वासना वंदधानया ।७।
तया विज्ञेयिका चक्रे महिष्या भूपतिं प्रति ।
यद्देवात्र समायातो नंदने श्रवणो मुनिः ।८।
राजा तद्वचनं श्रुत्वा काननं सपरिच्छदो ।
जगाम भावनायुक्तो यति दर्शन तत्परः ।९।
तेन तस्य पदद्वंद्वं नमश्चक्रे स्वभावतः ।
अशीर्वादं ददौ तस्मै नरेशाय मुनीश्वरः ।१०।
अथ श्रवणतः श्रुत्वा धर्माधर्मं नराधिपः ।
पप्रच्छ पापहन्तारं तनूजा देह दूषणम् ।११।
परमावधि सम्पन्नो मुनीन्द्रो वचनामृतम् ।
उवाच शृणु धात्रीश ! कर्म पुत्र्या पुराकृतम् ।१२।
अवन्ती विषयस्यान्तर्नगरे पाटली पुरे ।
राजा संग्राममल्लोऽभूत्पट्ट राज्ञी वसुंधरा ।१३।
तस्य भूपस्य सजातः शिवशर्मा पुरोहितः ।
भार्या कालासुरा पुत्री कपिला यौवनोन्नताः ।१४।
एकदा सा सखी युक्ता, गतोद्याने द्रुमाकुले ।
ध्यानारूढं तपस्यान्तमद्राक्षीत्पिहिताश्रवं ।१५।
काम संग मदारंभ प्रमाद कलहादिभिः ।
कषाय रति मिथ्यात्व स्नेह दोषैर्विवर्जितम् ।१६।
षडावश्यक सयोगैस्तपश्चारित्र बंधुरैः ।
सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण विचारैः प्रति सयुतः ।।१७
मासोपवासिनं ध्येय धारणा गुण भावितम् ।
मुक्ति स्त्री परमानद वासना वासितं सदा ।।१८
आम्र वृक्षतले स्थित्वा शिलापट्टे समाश्रितम् ।
पद्मासन समासन्नं काय योग निरोधकम् ।।१९
रागद्वेष भयैर्मुक्त, मोह सतति भेदकम् ।
कालज्ञं भव पर्याय द्रव्य पर्याय सूचकम् ।।२०
प्राशुक निरवद्यं च निर्दोष जन्तुवर्जितम् ।
स्थानमासादितं नाना पादप श्रेणि शोभितम् ।।२१
ततः सा कपिला दृष्ट्वा मुनिं प्रत्यक्ष वेदिनां ।
भाषमाणा वचो दुष्ट, प्रचुर कोपातिनिर्दया ।।२२
भो नग्नाट ! मम स्थान त्व निर्लज्ज ! परित्यज ।
त्वं केन विधिना नीतो मम सौख्य निरोधकः ।।२३
पाखंडेन कृतं मौन, पाखडेन धृत तपः ।
पाखण्डेन ममाग्रे त्वं, दम्भ दर्शयसि स्वयं ।।२४।।
एता सां मे वयस्यानां पश्यन्तीनां तवाकृति ।
लज्जापि ते न सजाता, लिंगं गोपय गोपय ।।२५
यदि राजा समाकर्ण्य, तवागमन लक्षणम् ।
विज्ञास्यति तदा दुःख तव देव भविष्यते ।।२६।।
गच्छ गच्छ दुराचार, यावद्राजा शृणोति नो ।
पुरोहित तनूजाहं निजं दर्शय मा मुखं ।।२७
सदा मदान्धया ब्रूतं दुष्ट वाक्यमृषीश्वरे ।
कर्म प्रकृति सश्लेष सजातश्लथ बन्धने ।।२८
तया हल्लीसको स्थान धूल्यास्पृष्टो महामुनिः ।
तांबूलेनाहतो ध्यानी मौनी निःशकितो व्रती ।।२९
पश्चात्कपिलया पाप, तदेव समुपार्जितम् ।
मृत्वा येन हि सा दुष्टा, प्रथमे नरके गता ।।३०

तत्र पंच प्रकारेण दु:ख विसहतेस्म सा ।
नारकेभ्यो वधच्छेद बंध ताड़न मारणम् ॥३१
शूलिका रोपणं तीव्रां वेदनामग्नि पातनम् ।
रासभारोहणं गात्र खण्डनं यंत्र पीलनम् ॥३२
भोजनं विहितं तस्याः स्वकीय रुधिरैः पलैः ।
शयनं कंटकाग्रेषु, कीलकेषूपवेशनम् ॥३३
आयुरुत्कृष्टतो भुक्त्वा तया निःसरितं ततः ।
पापिष्टया महात्यन्त दु:ख राजी समाकुलम् ॥३४
रासभी शूकरी व्याली, मार्जारी सर्पिणी तथा ।
चण्डालिनी तथा तस्य जाता दु:ख परम्परा ॥३५
अनादिकाल संसृत्या जीवेनार्जितमात्मना ।
मनुष्य भव मासाद्य यत्पुण्य कस्यचिद् गृहे ॥३६
तस्य पुण्यस्य महात्म्य, सयोगेन महीपते ।
तव गृहे पुनः जाता शुभनामा शुभस्थितिः ॥३७
उपसर्ग त्रयेणासीन्मुनीन्द्रस्य महात्मनः ।
शीलमत्यां त्वदीयायां पुत्र्यां दोषत्रयावली ।३८।
केवल ज्ञान सम्प्राप्ति पिहिताश्रव संयते ।
बभूव तद् मोक्षं गामिनः पूजितः सुरैः ।३९।
ततः पाद द्वयं नत्वा श्रवणस्य महामुनेः ।
उवाच वचनं शुद्धं नर ब्रह्मा नरेश्वरः ।४०।
कथं महामुने ! पुत्री मदीया निस्तरिष्यति ।
कल्मषं गात्र सकोचं समर्थं कर्त्तुमुद्यतम् ।४१।
अथावाद्य विनिर्मुक्त मब्रवीद् वचनं मुनिः ।
तद् व्रतं श्रूयता राजन् येनेयं स्वर्गजाभवेत् ।४२।
मासे भाद्रपदे शुक्ले, पक्षे च द्वादशी दिने ।
करोत्येव नरो नारी श्रवण द्वादशी व्रतम् ।४३।
प्रोषधस्योपवासेन ब्रह्मचर्यस्थ कर्मणा ।
जिनवास निवासेन तद्दिने क्रियते व्रतम् ।४४।
प्रभात समये स्थाने प्रासुके जिन मूर्त्तयः ।
चतुर्दिक् कुर्वंश्चापि स्थापनीया जिनालये ।४५।
पूजा चाष्ट विधा कार्या स्नपनेन जिनेशिना ।
सार्धं महाभिषेकस्य संसारास्थिति भेदिनी ।४६।
जल गन्धाक्षतैं पुष्पैश्चरु दीपोर्ध्वगैः फलै। ।
मध्यान्हे चाष्टकं देयं सामयिक पुरस्सरम् ।४७।
अपराजित मंत्रेण करणीयस्त्रिशुद्धिपः ।
साय जाप्य विधि जाती शतपत्र सरोरुहैः ।४८।

जलगालन वस्त्रेण छादिनस्तोय पूरितः ।
जिनाग्रे करको देय बीजपूर समन्वितः ।४९।
दातव्योऽर्घो जिनेन्द्राणां कुष्माड फल शोभित ।
जिनाग्रे दीयते सार्धं भ्रामरी जय मालया ।५०।
जय तर्क विसर्जित कुमतवाद,
जय सकल सुरासुर विनुतपाद ।
जय परम योग निर्मल विचार,
जय चरणाहत ससार भार ।५१।
जय निर्जित मिथ्यावचन बोध,
जय सुविहित विपदिन्द्रिय निरोध ।
जय केवल लक्षित जीव बध,
जय सुधागम कृत सत्य संधः ।५२।
जय खण्डित कर्मा राति देह,
जय परिहरिताखिल दिव्य गेह ।
जय लोक समुद्धरणैक धीर,
जय पाप निराकरणैक वीर ।५३।
जय मोह वृक्ष भेदन कुठार,
जय मुक्ति पुरध्री हृदयहार ।
जय छिन्न भिन्न कन्दर्प सार,
जय रागद्वेष मद बल प्रहार ।५४।
जय रत्नत्रय भूषित शरीर,
जय मार विशोषित विषय नीर ।
जय विगलित मद निचयप्रमाद,
जय करुणा भस्मित रति विषाद ।५५।
जय लोक त्रय भवदीय रेष,
जय निर्दित पर सग्रंथ वेष ।
जय कांचन मेरु पवित्र करण,
जय बोधि समाधि विशुद्धि करण ।५६।
जय शत्रु मित्र सम हेम लोह,
जय दूरी त्रासित पाप रोह ।
जय सकल विमल केवल विलास,
जय सहज बुद्धि हंसी मराल ।५७।
जय सप्त पंच षण्णव चरित्र,
जय सव्यंजन लक्षण चरित्र ।५८।
इत्यादि जयमालायाः स्तोत्रेणार्घो जिनेशिनाम् ।
दत्वा प्रदक्षिणास्तिस्रः समुत्तार्यो नराधिपः ।५९।

अनेन विधिना चैतद्व्रतं द्वादश वार्षिकम् ।
क्रियते भूप धर्मस्य मंडनं पाप खण्डनम् ।६०।
पश्चाद् उद्यापनं कार्यं, द्वादश द्वादश स्थिति ।
जिनोपकरणादीनां नैवेद्यान्त जिनालये ।६१।
कारयित्वा प्रतिष्ठाप्यं जिन बिम्बचतुष्टयम् ।
पित्तलोपल काश्मीर भेदज पाप हानये ।६२।
येषमेतानि वस्तूनि सपद्यते न देहिनाम् ।
प्रकुर्वन्तु यथा शक्त्या ते व्रत भाव पूर्वकम् ।६३।
विना भावेन नो दान, बिना भावेन पूजनम् ।
बिना भावेन कार्याणि, बिना भावेन सिद्धय: ।६४।
आत्मायत्तो भवे भाव: कर्मायत्त धनं नृणाम् ।
काले अर्थस्य सम्प्राप्तिस्तस्माद् भाव: प्रकाश्यते ।६५।
प्रजापालक ! कर्त्तव्य तद्दिनं न निरर्थकम् ।
अव्रते तद्दिने जाते, व्यर्थ जन्मापि भूपते ।६६।
अनेकानि व्रतानीश भाषितानि जिनेशिना ।
तानि सर्वाणि त्रैलोक नयन्ति परम पदम् ।६७।
व्रते कृते शीलमती त्वदीया,
पुत्री गृहे ते भविता तनूजा ।
पट्टास्त्रियो गर्भमवाप्य सद्यो,
मृत्वा दधाना हृदये जिनेशमम् ।६८।
तस्यार्क केतु: भवितेति नामा,
परसुपुत्रस्य च चन्द्रकेतु: ।
भूपत्वमासीज्जयनाय भावी,
पूर्वाय दत्वा युवराज पट्टम् ।६९।
त्वदीय धौरेय सुत ब्रुवाणो,
वैराग्यतां यास्यति वाक्यमेतत् ।
मातांजिका भूत कलहस राजा,
रणे पिता मृत्यु वश जगाम ।७०।
कृत्वा कनिष्ठाय जनस्य भारं,
राज्यं पितुश्चात्मपदं धरित्री ।
वने गमिष्यत्यर्कनेकंकेतु:
स्वर्गापवर्गा स्थिति कारणाय ।७१।
ज्येष्ठ: प्रभासेन मुनिस्समीपे,
दीक्षां समादाय तपो विधाता ।
मासोपवासेन गुहा निवासी,
सद् ब्रह्मचर्येण हत प्रमाद: ।७२।
देव: सहस्रारसुरालये सोऽवनीश,
भूत्वा सुर सौख्य माला ।
भोक्ता समं चारु सुरांगनाभि:
गतापि कालान्तरतोऽपि मोक्ष ।७३।
साक्रांति प्रथमे सुरालय पदे देवस्थिति: लप्स्यसे ।
रागद्वेष कषाय मोह विषय व्यापारता नोगता ।।
प्रान्ते निज राज्य लग्नमनसा त्व चन्द्रकेतो: सुत. ।
तत्कालेन भविष्यति जैनेऽपि मार्गे स्थिति: ।७४।
नृप प्रभृतिभि सर्वै: श्रुत्वा काल त्रयात्मिका ।
धर्माधर्ममयी वार्ता बभूवे हर्ष तत्परै. ।७५।
उज्जयिन्यां नर ब्रह्मा, विपूर्वा जनवल्लभा ।
गता शीलमती नत्वा श्रवण युग पद् गुरुम् ।७६।
तथा व्रत कृत पुत्र्या भाषितं मुनिना यथा ।
यादृशं श्रवणेनोक्तं सर्वेषां तादृशं स्थितम् ।७७।
मुनीश्वरा: प्रभाषंते, सावधि ज्ञान लोचन: ।
असत्य वचनं नैव यत: कारणतो भुवि ।७८।
परिलिखति पठति कथयति,
करोति भावयति यो व्रत शृणुते ।
स च लभते फलमतुलम्,
नि: पाप जिन मतोद्दिष्टम् ।७९।
चन्द्रभूषण शिष्येण, कथेयं, पापहारिणी ।
सस्कृता पण्डिताभ्रेण, कृता प्राकृत सूत्रत: ।८०।
।। इति श्रावण द्वादशी कथा समाप्त ।।

संवत् १५६३ वर्षे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे शनि दिने लिखितं ब्रह्मजमरु कर्मक्षय निमित्तं शुभ भवतु लेखक पाठकयो: ।।

नोट—यह कथा कांजी बारस व्रत की है यह व्रत भादव सुदी १२ को किया जाता है, इस रोज कुमारी कन्यायें कांजिकाहार (२।। चमची चावल-भात या छाछ में बाजरादि द्वारा एकाशन) करती हैं और नरनारी उपवास करते हैं यह व्रत १२ वर्ष तक किया जाता है और अन्त में उद्यापन भी करते हैं। भादवा सुदी १२ को ज्योतिष नियमानुसार श्रवण नक्षत्र आता है इसलिए इसका नाम "श्रवणद्वादशी" भी है। कथाकार ने श्रवण शब्द से श्रवण नामा दि० मुनि लिया है उन्हीं के श्रीमुख से यह कथा कहलाई

गई है। अन्तिम श्लोक से जाना जाता है कि—चन्द्रभूषण के शिष्य पंडित अभ्र देव ने यह कथा प्राकृत से संस्कृत में रची है। भादवा सुदी में ही सं० १५६३ मे ब्रह्म अमरु ने वसवा गटके में इसकी प्रति लिपि की है। अभ्रदेव के विषय में बृहज्जैन-शब्दार्णव भाग २ में ब्र० शीतल प्रसाद जी ने लिखा है :—"ये एक गृहस्थ थे जिन्होने व्रतोद्योतन श्रावकाचार रचा है"। यह श्रावकाचार जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर से श्रावकाचार संग्रह भाग ३ में छप चुका है। इसका मगलाचरण भी इस कथा के मगलाचरण की ही तरह है देखो—

प्रणम्य परम ब्रह्मातीन्द्रिय ज्ञान गोचरम्।
वक्ष्येऽहं सर्व सामान्य व्रतोद्योतनमुत्तमम्।।१।

दोनों कृतियो की रचना शैली भी एक सी है। एक उदाहरण लीजिए, सस्कार अर्थ मे वासना शब्द का प्रयोग दोनों में एक सा पाया जाता है देखो—श्रावकाचार का श्लोक न० ४०८ तथा कथा का श्लोक न० ७ और १८। इससे दोनो के कर्त्ता एक ही सिद्ध हैं।

राजस्थान ग्रंथ सूची भाग २ पृष्ठ २४० तथा भाग ३ पृष्ठ ३४ मैं पं० अभ्रदेव को लब्धिविधान कथा और व्रतोद्योतन श्रावकाचार का कर्त्ता बताया है इस तरह इनकी तीन रचनाओ का पता लगता है।

राजस्थान ग्रंथ सूची भाग ४ पृष्ठ २४५ में अभ्रदेव कृत—"श्रवण द्वादशी कथा" की एक प्रति का लिपिकाल संवत् १५१६ लिखा है।

आमेर शास्त्र भण्डार ग्रथ सूची पृष्ठ २०५ मे व्रतोद्योतन श्रावकाचार की एक प्रति का लिपिकाल सवत् १५४१ लिखा है।

इस श्रावकाचार के अन्तिम श्लोक मे कवि ने मुनि प्रवरसेन की प्रेरणा से इस ग्रथ के बनाने का उल्लेख किया है :—

कारापित प्रवरसेन मुनीश्वरेण, ग्रंथचकार जिनभक्त बुधाभ्रदेवः।५४२।

इस ग्रंथ के श्लोक २१३ मे ऋद्धियों के विस्तृत कथन के विषय में श्रुतसागर का समय १५०२ से १५५६ तक का रहा हैं। ये श्रुतसागर ज्यादातर वर्णी रूप से ही उल्लिखित रहे हैं मुनिरूप से नहीं, इसके सिवा श्रवण-द्वादशीकथा की एक प्रति का लिपिकाल ऊपर संवत् १५१६ दिया है तब उसका रचना काल तो उससे कुछ पूर्व ही होना चाहिए ऐसी हालत में ये श्रुतसागर पं० अभ्रदेव द्वारा सम्मत नही हो सकते। मेरे खयाल से इस विषय में श्रुत मुनिकृत त्रिभंगीसार की सोमदेव कृत सुबोधा टीका की प्रशस्ति से सारी समस्या हल हो सकती है। प्रशस्ति में लिखा है :—

यथामरेन्द्रस्यपुलोमजा प्रिया, नारायणस्याब्धिसुता बभूव।
तथाभ्रदेवस्य विजैणीनाम्ना प्रिया सुधर्मासुगुणासुशीला।।३।।
तयो: सुत: सद्गुणवान् सुवृत्त: सोमोऽभिधः कौमुद वृद्धि कारी।
व्याघ्रेरवालांबु-निधेः सुरत्नं जीयाच्चिरं सर्वजनीनवृत्तः।।४।।
श्रीपद्मांघ्रियुगे जिनस्य नितरांलीनः शिवाशाधरः।
सोमः सद्गुणभाजनः सविनयः सत्पात्रदानेरतः।।
सद्रत्नत्रययुक् सदा बुधमनोह्लादी चिर भूतले।
नंद्याद्येन विवेकिना विरचिता टीका सुबोधाऽभिधा।।
या पूर्वं श्रुतमुनिना टीका कर्णाटभाषया विहिता।
लाटीयभाषयासा विरच्यते सोमदेवेन।।४।।

(इन्द्र की पुलोमजा और नारायण की लक्ष्मी की तरह आम (अभ्र) देव की विजैणी (विजयिनी) प्रिया थी उनसे सोम देव पुत्र हुआ जो बघेरवाल वश का रत्न था उस शिवाशाधर—मोक्ष की आशा के धारी—मुमुक्षु—और विवेकी सोम देव ने त्रिभंगीसार की विद्वज्जनमनरंजनी सुबोधा टीका रची वह चिरकाल तक संसार में नंदित (प्रकाशित) हो। यह टीका पहिले श्रुतमुनिने कर्णाटक भाषा में रची थी उसी को सोमदेव ने लाटी भाषा मे रचा है।)

इसमें पं० सोमदेव ने--अपने को अभ्रदेव का पुत्र बताया है दोनों नाम देवान्त हैं। अभ्र—अकाश में ही सोम—चन्द्र होता है, दि० आम्नाय में उर्ध्व दिशा—आकाश का दिग्पाल सोम ही माना है इसलिए दोनों नाम पिता पुत्र रूप से सार्थक हैं। दोनों व्यक्ति गृहस्थ पंडित हैं प्रशस्ति में सोमदेव ने विवेकी शब्द से और अभ्रदेव ने

पंडित और बुध शब्द से ऐसा अपने को व्यक्त किया है।

वैदिक और श्वे० आम्नाय में आकाश—उर्ध्व दिशा का दिग्पाल (देव) ब्रह्म माना गया है और ब्रह्म—सिद्ध उर्ध्व दिशा में ही होते हैं। अतः अभ्रदेव—आकाश के देव —ब्रह्म होने से श्रमण द्वादशी कथा और व्रतोदयोतन श्रावकाचार के मंगलाचरण में नाम के श्लेष रूप से ब्रह्म नमस्कार किया गया है। और कथा में उज्जयनी के राजा का नाम भी नर ब्रह्म दिया है और अपनी पत्नी के नाम पर रानी का नाम भी विजयबल्लभा दिया है। यह सब परस्पर एकरूपता को द्योतित करते हैं।

प्रशस्ति में पं० सोमदेव ने जिन स्वोपज्ञ टीकाकार श्रुतमुनि का उल्लेख किया है। उनकी एक कृति परमागमसार शक संवत् १२६३ (वि० स० १३६८) में रचित है। इन्हीं श्रुत मुनि का प० अभ्रदेव ने श्रावकाचार मे उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है।

इस सब से पं० अभ्रदेव का समय १५वी शती (विक्रम की) द्योतित होता है।

पं० सोमदेव ने प्रशस्ति में 'शिवाशाधर का प्रयोग किया है। सागार धर्मामृत (श्रावक धर्म दीपक) के अन्त मे पं० आशाधर ने भी ऐसा ही शब्द प्रयोग किया है। पं० सोमदेव ने प्रशस्ति में 'चिरं नन्द्यात्' शब्दों का प्रयोग किया है वह आशाधर के द्वारा अपने ग्रंथों की टीका-प्रशस्ति में प्रयुक्त 'नन्द्यात्' या नन्दताच्चिरं' का ही अनुकरण है। पं० आशाधर नालछा (मध्य प्रदेश) के निवासी थे। उनके वंशज होने से पं० अभ्रदेव भी वहीं के निवासी होने चाहिए। इसी से कथा में उन्होने मध्य-प्रदेश की राजधानी उज्जयिनी का उल्लेख किया है।

पं० अभ्रदेव ने श्रवण द्वादशी कथा के श्लोक नं० ४७ में लिखा है।

जल गन्धाक्षतै पुष्पैश्चरु दीपोध्र्वगैः फलैः।
मध्यान्हें चाष्टकं देयं सामायिकपुरस्सरम्॥

अर्थात्—सामायिक करने के बाद मध्यान्ह में अष्ट-द्रव्य पूजा करना चाहिए। इस कथन से अष्टद्रव्य पूजा तपः कल्याणक (आहारदान) की प्रतीक है इस नई बात का ज्ञान होता है। शास्त्रों में मुनिका आहार काल भी मध्याह्न की सामायिक के बाद ही बताया है। पं०आशाधर ने भी अष्टद्रव्य पूजा इसी तरह मध्याह्न मे ही करना बताया है, देखो—सागर धर्मामृत अध्याय ६ श्लोक २१-२२।

हमारी सारी जिन पूजा विधि पचकल्याणक का ही प्रतिरूप है। इस विषय मे स्वतन्त्र रूप से अलग लेख द्वारा प्रकाश डालने का विचार है।

□□

(शेष पृ० ५ का शेषांश)

मन वचकाय धरै दृढ चित, यह अपनो पद जानहु मित्त॥
दोहा—दया ज्ञान सतोष अति, निर्वेद भाव निःसंग।
निर्निदान शुभ ध्यान अति, ए पुनि धर्म जु अंग॥
इति धर्मानुप्रेक्षा ॥११॥

अथ दुर्लभानुप्रेक्षा/चौपाई

अनंतकाल इक इन्द्रिय रह्यो, त्रस पद पाय जु दुर्लभ भयौ।
कष्ट-कष्ट करि नरतन पाय,कर प्रमाद विषयन मन लाय॥
उत्तम देव धर्म गुरु लीक, इन्द्रिय मन पुनि रह्यो न ठीक।
यनत्त्रर तह दुर्लभ जोग, करण लब्धि दुर्लभ सयोग॥

दोहा—जुवा सैल सयोग तुल्ल, भए पुनि मानिजै।
जैनधर्म अतिसार, सो अति दुर्लभ जानिजै॥
इति दुर्लभानुप्रेक्षा ॥१२॥

चौपाई

एद्वादश अनुप्रेक्षा सुख दैनी, स्वर्ग मोक्ष पद जानि न सैनी॥
जो मुनिराज चितवइ हेत, धर्म शुक्ल साधै शुभ चेत॥
इति द्वादशानुप्रेक्षा समाप्ताः

श्रुतकुटीर
६८, कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

मेघदूत और पार्श्वाभ्युदय के कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन

□ श्री कपूर चन्द जैन

कवि कुलगुरु महाकवि कालिदास की अमर कृति मेघदूत न केवल संस्कृत साहित्य अपितु विश्वसाहित्य की अप्रतिम कृति है। परवर्ती काल मे अनेक जैन कवियों ने एक नवीन उद्देश्य को ग्रहण कर मेघदूत के चरणों / चतुर्थ चरण को लेकर समस्यापूर्ति के रूप मे अनेक पादपूर्ति-काव्यों की रचना की ऐसे काव्यों में पार्श्वाभ्युदय, नेमिदूत, शीलदूत, चैतोदूत आदि अति प्रसिद्ध हैं।

आठवी-नौवी[१] शती के महान् जैन कवि आचार्य जिनसैन अपने आदि पुराण के कारण संस्कृत पुराणकारों में तो महत्वपूर्ण स्थान रखते ही हैं पार्श्वाभ्युदय के कारण संस्कृत गीतिकाव्यकारो की विदग्ध मडली मे भी वे जा बैठ हैं। मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के एक या दो चरणो को समस्यापूर्ति के रूप मे लेकर लिखा गया यह काव्य संस्कृत जैन गीतिकाव्यो में सर्वाधिक महत् कलेवर वाला काव्य है। जिनसेन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होने श्रृंगार के वातावरण को अपनी प्रतिभा से शान्त रस मे परिणत कर दिया है।

३६४ श्लोक प्रमाण प्रस्तुत काव्य की कथा वस्तु चार सर्गों में बँटी है जिनमें क्रमशः ११८, ११८, ५७, ७१ श्लोक हैं। समस्यापूर्ति का आवेष्टन ८ प्रकारो मे किया गया है—

(१) वे श्लोक जिनमें प्रथम चरण मेघदूत का कोई चरण है बाकी तीन कवि रचित। ऐसे कुल २ श्लोक हैं।[२]

(२) वे श्लोक जिनमें द्वितीय चरण मेघदूत का कोई चरण है बाकी तीन कवि रचित। ऐसे भी कुल २ श्लोक हैं।[३]

(३) वे श्लोक जिसमें चतुर्थ चरण मेघदूत का कोई चरण है बाकी के तीन कवि रचित। ऐसे कुल २३५ श्लोक हैं।[४]

(४) वे श्लोक जिनमें प्रथम और तृतीय चरण मेघदूत के कोई चरण हैं बाकी दो कवि रचित। ऐसे कुल ६ श्लोक हैं।[५]

(५) वे श्लोक जिनमें प्र० और च० चरण मेघदूत के कोई चरण है बाकी दो कवि रचित। ऐसे तीन श्लोक हैं।[६]

(६) वे श्लोक जिनमें द्वितीय तृतीय चरण मेघदूत के कोई चरण हैं बाकी दो कविरचित। ऐसा केवल १ श्लोक है।[७]

(७) वे श्लोक जिनमे द्वितीय और चतुर्थ चरण मेघदूत के कोई चरण है बाकी दो कवि रचित। ऐसे कुल १२ श्लोक हैं।[८]

(८) वे श्लोक जिनमें तृतीय चतुर्थ चरण मेघदूत के कोई चरण हैं बाकी दो कवि रचित। ऐसे कुल ६७ श्लोक है।[९]

इसके अतिरिक्त ६ श्लोक ऐसे भी हैं जिसमें मेघदूत का कोई चरण नही है। ये अन्तिम मगलस्वरूप हैं और काव्य के अन्त मे हैं।[१०]

पार्श्वाभ्युदय के उक्त विवरणी को एक विवरणी द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

क्र०	सर्ग	मे० का प्रथम चरण	मे० का द्वितीय चरण	मे० का चतुर्थ चरण	मे० का १+३ चरण	मे० का १+४ चरण	मे० का २+३ चरण	मे० का २+४ चरण	मे० का ३+४ चरण	योग
१	प्रथम			१००			१		१७	११८
२	द्वितीय			७८	४	१		४	३१	११८
३	तृतीय			८	५	२		८	३४	५७
४	चतुर्थ	२	२	४६					१५	६५
योग		२	२	२३२	६	३	१	१२	६७	३५८
मेघदूत		१/२	१/२	५८	४॥	१॥	१/२	६	४८॥	१२०

३५८+६=३६४ (छः श्लोकों में पादपूर्ति नही)।

पार्श्वाभ्युदय मेघदूत पर समस्या पूर्ति के रूप में लिखा गया है। अतः मेघदूत के पाठ निर्धारण में महत्त्वपूर्ण आधार का काम करता है। जिनसेन मेघदूत के कुल १२० श्लोकों से परिचित थे यह उक्त बिवरणी में स्पष्ट कर दिया गया है। मेघदूत के समान ही इस काव्य में मन्दाक्रान्ता छन्द व्यवहृत हुआ है। छः श्लोकों में छन्द परिवर्तित है।

मेघदूत के उपजीव्य के सन्दर्भ में विद्वान् एक मत नही हैं। कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद मे आये सरमापणि सवाद को मेघदूत के रूप मे स्वीकार किया है।[11] मेघदूत के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का कथन है कि भगवान राम ने सीता के लिए हनुमान के द्वारा जो सन्देश भेजा उसी को ध्यान में रख कर कालिदास ने मेघदूत की रचना की है।[12] डा० भीखनलाल आत्रेय प्रभृति विद्वानो की दृष्टि मे योगवाशिष्ठ रामायण मे मेघदूत का मूल है किंतु रामायण के उक्त अश में प्रक्षिप्तता तथा योगवाशिष्ठ का काल निश्चित न होने के कारण स्वय डा० आत्रेय दोनों के पूर्वापर का निर्धारण नही कर सके है।[13] कुछ विवेचकों की दृष्टि में कुवेर ने यक्ष को जो शाप दिया उसका आधार ब्रह्मवैवर्तपुराण में योगिनी नामा आषाढ़ कृष्ण पक्ष एकादशी के महात्म्य में एक कथा आती है।[14] और कुछ विद्वानों की दृष्टि में स्वयं महाकवि कालिदास के जीवन में कोई ऐसी घटना घटी जिसे उन्हें अपनी परम प्रिया का वियोग सहन करना पड़ा, तभी उनकी हृदयतंत्री से अचानक मेघदूत फूट पड़ा। इसके विपरीत पार्श्वाभ्युदय का कथानक पुराण प्रसिद्ध है। जैन पुराणों मे २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र विशदता से वर्णित है और कमठ द्वारा उपसर्ग की घटना और भी विशिष्टता से वर्णित है। जिनसेन ने इसी घटना से अपना ग्रन्थ प्रारम्भ किया है। पुराण की कथा को काव्योचित रीति से परिवर्तित परिवर्धित किया गया है। स्वय जिनसेन कथा गुणभद्र रचित आदि पुराण को पार्श्वाभ्युदय का मूल कहा जा सकता है। पार्श्वाभ्युदय की कथा संक्षेप मे इस प्रकार है—

पोदनपुर नरेश अरविन्द के द्वारा बहिष्कृत किया हुआ कमठ सिंधु नदी के तट पर तपस्या करता है। मरुभूति कमठ के समीप आता है, जिसे देखकर कमठ की क्रोधाग्नि भड़क उठती है और वह ऊपर पाषाणशिला गिरा देता है, जिससे मरुभूति मर जाता है। अनन्तरं दोनों अनेक जन्मों में एक दूसरे को कष्ट देते रहते हैं। मरुभूति का जीव वाराणसी मे पार्श्वनाथ होता है। दीक्षा धारण के पश्चात् तपश्चरण करते समय कमठ का जीव, जो इस जन्म मे शम्बर नाम का देव है, उसे देखता है और उसका पूर्वकालीन बैर जाग्रत हो जाता है वह सिंह के समान गर्जना करता है और युद्ध के लिए ललकारता है। युद्ध में मृत्यु पाने के बाद स्वर्गस्थित अलकापुरी जाने का परामर्श देता है, जहा शम्बर की प्रेयसी वसुन्धरा विद्यमान है। पार्श्वनाथ के मौन रहने पर शम्बर उसे पूर्व भवों की याद दिलाता है और युद्ध मे पार्श्वनाथ के मारे जाने की सम्भावना को लेकर स्वयं मेघ रूप धारण करने के कारण पार्श्वनाथ को भी मेघ का रूप देकर उत्तर दिशा मे स्थित अलकापुरी आने का परामर्श देता है।

इतने पर भी पार्श्वनाथ शान्त रहते हैं। शम्बर पुनः युद्ध के लिए प्रेरित करता है तथा माया शक्ति से स्त्रियो का गाना प्रारम्भ करा देता है जब पार्श्वनाथ विचलित नही होते तो वह पाषाण की वर्षा प्रारम्भ करता है तभी धरणेन्द्र और पद्मावती नागदेव वहां आते हैं। और उपसर्ग दूर करते हैं। पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो जाता है तथा शम्बर क्षमा याचना करता हुआ धर्म ग्रहण करता है। आकाश से फूलो की वर्षा होती है।

मेघदूत का कथानक जहा एकदम स्पष्ट है और संदेश तथा संदेश के वचन भी एकदम स्पष्ट हैं वहां पार्श्वाभ्युदय का कथानक कुछ उलझा हुआ है। डा० नेमिचन्द शास्त्री का यह कथन कि—"काव्य शैली की जटिलता के कारण पार्श्वाभ्युदय की कथावस्तु सहसा पाठक के समक्ष नहीं आ पाती।" ठीक ही है।[15] कवि ने मेघदूत के ही कथानक को पल्लवित करने का सफल प्रयास किया है। किन्तु मेघदूत की ही तरह वर्णनों के लोभ के कारण जिनसेन काव्य में उतना चमत्कार नही ला सके हैं। यदि किसी दूसरे कथानक को जिनसेन उठाते तो निश्चय ही वह इस कथानक से अधिक हृदयावर्धक होता।

इसी प्रकार पार्श्वाभ्युदय के संदेश-वचन भी स्पष्ट नहीं है। डा० गुलाब चन्द्र चौधरी का यह कहना ठीक ही है कि—"वैसे पार्श्वाभ्युदय, मेघदूत की समस्यापूर्ति में

रचा गया है इससे इसे सन्देश काव्यों की श्रेणी में रख सकते हैं पर इसमें दूत या सन्देश शैली के कोई लक्षण नहीं है। इसे हम एक अच्छा पादपूर्ति काव्य कह सकते हैं।"[१६]

मेघदूत की तरह पार्श्वाभ्युदय मे रामगिरि से अलका तक के मार्ग का वर्णन किया गया है। रामगिरि मे आम्रकूट पर्वत, नर्मदा नदी, विन्ध्यवन, दशार्ण देश और उसकी राजधानी विदिशा, वेत्रवती नदी उसके पश्चात नीचैः पर्वत, निर्विन्ध्या नदी तथा सिन्धु नदी का उल्लेख है। तदनन्तर उज्जयिनी में जिनेन्द्र के मन्दिर में जिन स्तुति करने तथा महाकाल नामक वन में जिनालयों के दर्शन करने की सलाह पार्श्वनाथ (मेघ) को शम्बर ने दी है। मेघदूत की तरह ही उज्जैयिनी का वर्णन है। आगे गम्भीरा नदी, देव गिरि पर्वत, चर्मण्यवती नदी, दशपुर नगर, ब्रह्मावर्त देश, कुरुक्षेत्र, कनखल, हिमालय, क्रौंचरन्ध्र का वर्णन किया है। ये सभी स्थान मेघदूत में आये हैं इस दृष्टि से इसे परापरमगत वर्णन कहा जा सकता है। अलकापुरी का भव्यचित्र जिनसेन ने खीचा है। अलका में पूर्व जन्म की पत्नी वसुन्धरा से मिलन का वर्णन किया है। इस प्रकार कुल मिलाकर जिनसेन ने मेघदूत के कथानक को ही पल्लवित किया है। किन्तु अपनी प्रतिभा से उसमें विलक्षणता ला दी है, किसी श्लोक के चरण को लेकर पूरे श्लोक और कथानक मे सयोजन करना कितना दुष्कर कार्य है। यह पाठकों से छिपा नहीं है। पार्श्वाभ्युदय में कमठ यक्ष के रूप में उसकी प्रेयसी भ्रातृपत्नी वसुन्धरा यक्षपत्नी रूप मे अरविन्द कुबेर रूप में तथा पार्श्वनाथ मेघराजरूप में कल्पित हैं। वसुन्धरा की विरहावस्था का वर्णन मेघदूत की यक्षप्रेयसी की विरहावस्था के समान सरस तथा भावुकतापूर्ण है। पर सन्देश मेघदूत से भिन्न है। शम्बर पार्श्वनाथ के धैर्य, सौजन्य सहिष्णुता और अपारशक्ति से प्रभावित होकर स्वयं वैर भाव का त्याग कर उनकी शरण मे पहुचता है और पश्चाताप करता हुआ अपने अपराध की क्षमा याचना करता है। इस प्रकार काव्य की समाप्ति शृंगार में न होकर शान्त रस मे होती है।

कुन्द कुन्द जैन डिग्री कालेज, खतौली (उ० प्र०)

सन्दर्भ

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, गणेश प्रसाद वर्णी ग्रथमाला वाराणसी, पृष्ठ ३१।

२. पार्श्वाभ्युदय : सम्पा० मो० गौ० कोठारी, प्रकाशक गुलाब चन्द हीराचन्द बम्बई, ४।३६ तथा ३९।

३. वही ४।३७ तथा ४०।

४. वही सर्ग प्रथम १ से १००।
सर्ग द्वितीय—१ से २०, ३७ से ४६, ४८, ४९, ५१, ५२, ५४, ५५, ५७, ५८, ६० ६१, ८१ से ११८।
सर्ग तृतीय—१८ से १५।
सर्ग चतुर्थ—१ से २४, ३० से ३५, ४६, ४७, ५१, ५२, ५४ से ६५।

५. वही २।६५, ६९, ७३, ७५। ३। ३८, ४०, ४८, ५०, ५२।

६. वही २।६६, ३।३६ तथा ३८।

७. वही २।११३।

८. वही २।६७, ७०, ७१, ७२।३।८, ४१ से ४६, ५४।

९. १।१०१ से ११२, ११४, ११५ से ११८।
२।२१ से ३६, ४७, ५०, ५३, ५६, ५९, ६२, ६३, ६४, ६८, ७४, ७६, ७७।

१०. वही ४।६९ से ७१।

११. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, भारतीय ज्ञानपीठ काशी पृष्ठ, ४७१।

१२. 'सीता प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघ-सन्देशं कवि कृतवानित्याहुः'—मेघदूत के प्रथम श्लोक पर मल्लिनाथ कृत टीका।

१३. डा० भीखन लाल आत्रेय, (योगवाशिष्ठ में मेघदूत शीर्षक लेख) कालिदास ग्रन्थावली, अलीगढ़।

१४. आचार्य शेषराज शर्मा कृत मेघदूत की व्याख्या, चौ० विद्या भवन वाराणसी देखें।

१५. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत गीतिकाव्यानुचिन्तनम् सुशीला प्रकाशन धौलपुर १९७०, पृष्ठ ९६।

१६. डा० गुलाब चन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का बृहद इतिहास भाग ६, पाठ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी पृष्ठ ५४७।

"केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित"

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं

☐ नरेश कुमार पाठक

भगवान पार्श्वनाथ इस अवसर्पिणी के तेईसवें जिन हैं। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का सर्वज्ञ तीर्थंकर माना गया है। वाराणसी के महाराज अश्वसेन उसके पिता और वामा या (वर्मिला) उनकी माता थीं।[1] जन्म के समय बालक सर्प के चिन्ह से चिन्हित था। आवश्यक चूर्णि एवं त्रिषाष्टिका पुरुष चरित्र में उल्लेख है, कि माता ने गर्भकाल में एक रात अपने पार्श्व में सर्प को देखा था; इसी कारण बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया। उत्तर पुराण के अनुसार जन्माभिषेक के बाद इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा। पार्श्वनाथ का विवाह कुशस्थल के शासक प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती से हुआ, दिगम्बर ग्रंथो मे पार्श्वनाथ के विवाह प्रसंग का उल्लेख नही है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नेमि के भित्ति चित्रो को देखकर और दिगम्बरों के अनुसार ऋषभ के वांगमय जीवन की बातों को सुनकर, तीस वर्ष की अवस्था में पार्श्वनाथ के मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ। पार्श्वनाथ ने आश्रमपद उद्यान मे अशोक वृक्ष के नीचे पचमुष्टि से केशों को लुन्चन कर दीक्षा ली।

पार्श्व वाराणसी से शिवपुरी नगर गए और वही कौशाम्ब वन मे कायोत्सर्ग में खड़े होकर तपस्या प्रारम्भ की। धरणेन्द्र ने फण से पार्श्व की रक्षा के लिए उनके मस्तके पर छाया की थी। अपने एक भ्रमण में पार्श्व तापसाश्रम पहुंचे और सन्ध्या हो जाने के कारण वही एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में खड़े होकर तपस्या प्रारंभ की। उसी समय आकाश मार्ग से मेघमाली (याशाम्बर) नाम का असुर (कमठ का जीव) आ रहा था। जब उसने तपस्यारत पार्श्व को देखा तो उसे पार्श्व से अपने पूर्वजन्मों के बैर का स्मरण हो आया। मेघमाली ने पार्श्व की तपस्या भंग करने के लिए तरह-तरह के उपसर्ग उपस्थित किए। पर पार्श्व पूरी तरह अप्रभावित और अविचलित रहे। मेघमाली ने सिंह, गज, वृश्चिक, सर्प और भयंकर वैताल आदि के स्वरूप धारण कर पार्श्व को अनेक प्रकार की यातनाएं दीं। उपसर्गों के बाद भी पार्श्व विचलित नही हुए तो मेघमाली ने माया से भयंकर वृष्टि प्रारम्भ की जिससे सारा वन प्रदेश जलमग्न हो गया। पार्श्व के चारों ओर वर्षा का जल बढ़ने लगा जो धीरे-धीरे उनके घुटनों, कमर, गर्दन और नासाग्र तक पहुंच गया। पर पार्श्वनाथ का ध्यान भंग नही हुआ। उसी समय पार्श्व की रक्षा के लिए नागराज धरणेन्द्र पद्मावती एवं वैरोट्या जैसी नागदेवियो के साथ पार्श्व के समीप उपस्थित हुए। धरणेन्द्र ने पार्श्व के चरणों के नीचे दीर्घनालयुक्त पद्म की रचना कर उन्हें ऊपर उठा दिया, उनके सम्पूर्ण तन को अपने शरीर से ढक लिया साथ ही शीर्ष भाग के ऊपर सप्तसर्प, फणों का छत्र भी प्रसारित किया।[2] उत्तर पुराण (७३-१३६-४०) के अनुसार धरणेन्द्र ने पार्श्वनाथ को चारों ओर से घेर घर कर अपने फणो पर उठा लिया था और उनकी पत्नी पद्मावती ने शीर्ष भाग में बज्रमय छत्र की छाया की थी। मेघमाली ने अपनी पराजय स्वीकार कर पार्श्व से क्षमा याचना की। इसके बाद धरणेन्द्र भी देव-लोक चले गए। उपर्युक्त परम्परा के कारण ही मूर्तियों पार्श्व के मस्तक पर सात सर्पफणो के छत्र प्रदर्शन की म परम्परा प्रारम्भ हुई। मूर्तियों में पार्श्व के घुटनों या चरणों तक सर्प की कुण्डलियों का प्रदर्शन भी इसी परंपरा से निर्देशित हैं। पार्श्व को छत्र से युक्त दिखाया गया है।

पार्श्वनाथ को वाराणसी के निकट आश्रम पद उद्यान में धात की वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में केवल ज्ञान और १०० वर्ष की अवस्था में सम्मेद शिखर पर निर्वाण पद प्राप्त हुआ।[3]

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ६ दुर्लभ प्रतिमाएं संग्रहित हैं। जिन्हें मुद्राओं के आधार पर दो भागों में बांटा गया है। (अ) कायोत्सर्ग (ब) पद्मासन।

(अ) कायोत्सर्ग—कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित अहमदपुर (जिला विदिशा) से प्राप्त (सं० क्र० ११६) तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर पर कुन्तलित केश ऊपर पांच फणों का छत्र शैय्या बनी हुई है। वक्ष पर श्रीवत्स अंकित है। तीर्थंकर के दायें सौधर्मेन्द्र और वाए ओर ईशानेन्द्र चंवरी लिए खड़े हैं। परिकर में दो कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमाएं एव दो पद्मासन मे पार्श्वनाथ की नागफण मौलि युक्त लघु प्रतिमा अकित है। पादपीठ पर दो सिंहों के बीच धर्मचक्र स्थित है। सिंहों के पास क्रमश: यक्ष धरणेन्द्र और बाए यक्षी पद्मावती का आलेखन है। एस० आर० ठाकुर ने इस प्रतिमा को जैन तीर्थंकर लिखा है।[1] ११ वी शती ई० की यह प्रतिमा कलात्म अभिव्यक्ति की दृष्टि से परमार कालीन शिल्पकला के अनुरूप है।

(ब) पद्मासन—पद्मासन में निर्मित तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पांच प्रतिमायें संग्रहालय में संरक्षित है। पढ़ावली (जिला मुरैना) से प्राप्त मूर्ति में (सं०क्र० १२४) पद्मासन मे बैठे हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ के दोनों पैर भग्न हैं। ऊपर सप्त फण नागमौलि का अङ्कन है। प्रभावली, सिर पर कुन्तलित केशराशि बक्ष पर श्री वत्स का प्रतीक है। सप्तफण के छत्र के ऊपर दुन्दभिक है। दोनों ओर एक एक हाथी अभिषेक करते हुए प्रदर्शित हैं। तीर्थङ्कर के दाए ओर सौधर्मेन्द्र और बाए ओर ईसानेन्द्र चवरी लिए हाथियों पर खडे है। परिकर मे दोनो ओर दो-दो जिन प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ी है। प्रतिमा की चौकी पर दो सिंहो के बीच धर्मचक्र स्थित है। सिंह के बायी ओर यक्षी पद्मावती बैठी है। बाए ओर स्थित यक्ष धरणेन्द्र की प्रतिमा टूट चुकी है। बाहरी अलकरण मे मकर आदि व्याल आकृतियो का आलेखन है। एस० आर० ठाकुर ने इन प्रतिमाओं को भी जैन तीर्थङ्कर लिखा है।[1] ग्यारहवीं शती ईस्वी की यह प्रथम प्रतिमा शारीरकि अवयवों को देखते हुए कच्छपघात का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त (सं० क्र० १३०) पद्मासन में निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मुख, हाथ व पैर खण्डित है। सिर पर सप्तफण नागमौलि, वक्ष पर श्री वृक्ष अंकित है। सिर के ऊपर त्रिछत्र दोनों ओर विद्याधर पुष्पहार लिये प्रदर्शित है। परिकर एवं वितान में पांच पद्मासन में एवं छ: कायोत्सर्ग में जिन प्रदर्शित है। परिकर एवं वितान में पांच पद्मासन मे एवं छ: कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमाओं का अंकन हैं। तीर्थंकर के दायें सौधर्मेन्द्र और बायें ईशानेन्द्र चवरी लिये खड़े है। पादपीठ के नीचे दोनों सिंह आकृतियां एवं सिंहों के पार्श्व में यक्ष धरणेन्द्र और बायें यक्षी पद्मावती का अंकन है। निकट ही दो भक्तों का आलेखन है।[1] १४वीं शती ईस्वी की यह प्रतिमा तोमर कालीन कला की उत्कृष्ट कृति है।

इमीं काल खण्ड की (सं० क्र० ४७५) प्रतिमा भी ग्वालियर से ही प्राप्त है। पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अकन है। तीर्थंकर के दायें सौधर्मेन्द्र और बायें ईसानेन्द्र चवरी लिए खड़े हैं पादपीठ पर मध्य में चक्र दोनो पार्श्व मे विपरीत दिशा में मुख किये सिंह आकृतियो का आलेख है। परिकर में दोनों और सिंह व्यालो का शिल्पांकन है।

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त (सं० क्र० १२०) तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा का केवल पादपीठ ही प्राप्त हुआ है। जिस पर दोनो ओर सामने मुख किये सिंह बैठे हैं, जिनके मध्य में धर्मचक्र और दोनों ओर भक्तगण अंजली हस्त मुद्रा में बैठे हुए हैं। दोनों पार्श्व यक्ष धरणेन्द्र एवं यक्षी पद्मावती का अंकन हैं। पादपीठ पर विक्रम संवत १५९६ (ईस्वी सन् १५३९) का स्थापना लेख उत्कीर्ण है।[1]

ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त (सं० क्र० ३०६) तीर्थंकर पार्श्वनाथ का केवल सिर ही प्राप्त है। जिस पर सप्तफणों से युक्त आकर्षक नागमौलि का अच्छादन है। सिर पर कुन्तलित केश सज्जा का अंकन है। चेहरा अण्डाकार, आंखें आधी बन्द है। हालाकि नाकथोड़ी टूटी हुई है। परन्तु चेहरो की भाव दृष्टि से प्रतिमा १०वी शती ईस्वी की है।

सन्दर्भ सूची

१. महापुराण (पुष्पदंत कृत) सं० पी० एल० वैद्य मानिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला पर बम्बई १९४१ में पार्श्व के माता-पिता का नाम ब्राह्मी और विश्वसेन बताया गया है। (शेष पृ० १६ पर)

उत्तम ब्रह्मचर्य : एक अनुशीलन

लेखक : डा० कस्तूरचंद 'सुमन'

जैन धर्म में दस धर्म बताये गए हैं, उनमे यह शांति धर्म है।[1] आचार्य समन्तभद्र ने धर्म की संज्ञा उसे दी है जो जीवो को समार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुखों में पहुंचाता है, कर्मों का नाशक होता है, और उभय लोक में उपकार करता है।[2] ब्रह्मचर्य एक ऐसा ही धर्म है। इसका धर्मों के अन्त मे कहा जाना इस तथ्य का प्रतीक है कि इसके पूर्व कथित धर्मों की साधना के उपरान्त ही इस धर्म की साधना सम्भव है। इस धर्म के सम्बन्ध में मुनि विद्यानन्द जी के विचार उल्लेखनीय है "जिस प्रकार मन्दिर बनाने के बाद स्वर्ण कलश चढ़ाते हैं उसी प्रकार यह धर्म पर चढ़ा हुआ स्वर्ण कलश है।[3] अतः कहा जा सकता है कि मानव जीवन में इसका उतना ही महत्व है जितना महत्व है मन्दिर के स्वर्ण कलश का मन्दिर के निर्माण में।"

संसारी प्राणी दुःखों से भयभीत हैं वे सुख चाहते है।[4] किन्तु वे सुख साधन उपलब्ध होने पर भी उन्हें तब तक ग्रहण नही करते जब तक कि वे उनसे परिचित नही हो जाते। अतः ब्रह्मचर्य के विविध रूपों को आइए हम समझें।

आचार्य उमा स्वामी ने "मैथुनमब्रह्म" कह कर मैथुन क्रिया को अब्रह्म कहा है।[5] तथा अमृतचन्द्राचार्य ने वेद और राग के योग को मैथुन संज्ञा दी है और उसे ही अब्रह्म कहा है।[6] भगवती-आराधना में ब्रह्म का अर्थ जीव बताया है तथा पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में आत्मा।[7]

अतः इन उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि आत्मा का उपयोग आत्मा में ही लीन होने लगना, ब्रह्मचर्य है। जैसे कछुआ दुःखों का संकेत पाकर अपने अंगों का संकोच कर लेता है इसी प्रकार सुखाभिलाषी जीव को भी विषयों से मुख मोड़ना होगा।

अब्रह्म अर्थात् मैथुन के त्याग में आचार्यों की अन्तर्निहित भावना यही है कि प्राणी सुखी हो। सुख का कारण धर्म, जीव-दया पर आश्रित है तथा मैथुन है हिंसा जनित दोषों से पूर्ण।[8] राग-जनित होने से भाव-प्राणों का भी घातक है : रज और वीर्य जनित कीटाणुओं का घात होने से द्रव्य प्राणो की हिंसा होती ही है।[9]

जीव दया का तात्पर्य शरीर दया नही है क्योंकि जीव नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न है। चैतन्य स्वभावी है। यथार्थ में उसकी रक्षा करता है—उसे विकृति में नहीं जाने देना। अब्रह्म से हटकर ब्रह्म में रमण करने से ऐसी ही जीव दया का संरक्षण होता है। और इसीलिए आवश्यक है कि हम ब्रह्म मे रमण करें। हिंसा जनित अब्रह्म से बचें।

निश्चय नय से तो ब्रह्मचर्य का यही स्वरूप है। मुनि ऐसे ही ब्रह्मचर्य को धारते हैं, किन्तु व्यवहार से स्वकीय-परकीय दोनों प्रकार की स्त्रियों का त्याग हो जाना ब्रह्म-

---

(पृ० १५ का शेषांश)

२. त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र खण्ड ५ (हेमचन्द्रकृत) अनु० हेलेन एम० जानसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज १३९ बड़ोदा १९६२ पृष्ठ ३९४-९६।

३. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद जैन प्रतिमा विज्ञान वाराणसी १९८१ पृष्ठ १२४-२५।

४. ठाकुर एस० आर० कैटलाग आफ स्कप्चर्स आर्केलाजीकल म्यूजियम मध्य भारत पृष्ठ २१ क्रमांक ७।

५. वही पृष्ठ २२ क्रमांक १२।

६. वही पृष्ठ २३ क्रमांक १८।

७. दीक्षित एस० के० ए गाईड टू दी सेन्ट्रल आर्केलोजीकल म्यूजियम ग्वालियर १९६२ पृष्ठ ४२, एव ठाकुर एस० आर० पूर्वोक्त पृष्ठ २१ क्रमांक ८।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय,
गूजरीमहल, ग्वालियर

चर्य है। जो नारी के मर जाने से ब्रह्मचारी बन जाते हैं तथा ब्रह्मचारी बन जाने पर भी जिनकी नारियों के प्रति आसक्ति नही घट पाती वे ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले दोषों से नहीं बच पाते। वे तो "नारि मुयी हुए सन्यासी" कहावत को चरितार्थ करते है।

सांसारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने या वंश परम्परा चलाने हेतु जो लोग उत्सुक है, ऐसे लोगो के लिए आचार्यों ने स्वदार-सन्तोष व्रत धारण करने के लिए कहा है। ऐसा मानव पाप के डर से मन, वचन, काय से पर स्त्री का सेवन नही करता तथा दूसरो को भी मन, वचन, काय से सेवन नही कराता। वेश्याओ को भी नही सेवता, न सेवन हेतु दूसरो को कहता है।[10]

प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो कहा गया? क्या इसमे हिंसा नही होती? हिंसा तो अवश्य होती है, परन्तु गृहस्थ की मर्यादा बनी रहे, सामाजिक नैतिकता और व्यवस्था भंग न हो इस दृष्टि से ऐसा करना न्यायोचित प्रतीत होता है। इस व्रत के कथन मे आचार्यों की दूरदर्शिता ही परिलक्षित होती है। ऐसा व्रती स्वदार सेवक तो अवश्य है, किन्तु अनासक्ति पूर्वक।

इस उल्लेख का तात्पर्य यह नही है कि स्वदार सतोष व्रत को केवल पुरुष ही माने। स्त्रियो का भी कर्तव्य है कि वे स्व-पुरुष मे हो सन्तुष्ट रहें। परपुरुष का मन में भी चिन्तवन न कर अपने आभूषण शील की रक्षा करें।

ब्रह्मचर्य पालन में सहायकअग ब्रह्मचर्य पालन हेतु एक ओर जहा बाह्य परिस्थितियो का आचार्यों ने उल्लेख किया है। दूसरी ओर आन्तरिक परिस्थितियो को भी दर्शाया है। बाह्य कारणो को उन्होने अतिचार और अन्तर से सम्बन्धित कारणो को भावना नाम से सम्बोधित किया है। स्त्रियो मे राग-वर्द्धक कथाओ का श्रवण, उनके मनोहर अङ्गो का दर्शन, भोगे हुए विषयो का स्मरण, काम-वर्द्धक गरिष्ठ भोजन और शारीरिक सस्कार ये पाच भावनाएँ है।[11] जिनका चित्त पर प्रभाव पड़े बिना नही रहता, ब्रह्मचर्य की साधना मे इनसे बाधा उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार जो दूसरो के पुत्र-पुत्रियो का विवाह करते कराते हैं, पति सहित या रहित स्त्रियो के पास आते-हैं' लेन-देन रखते हैं, राग-भाव पूर्वक बातचीत करते हैं। वेश्याओं से सम्बन्ध रखते। काम सेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से काम-सेवन करते हैं और काम-सेवन की तीव्र अभिलाषा रखते हैं।[12] ऐसे लोग ब्रह्मचर्य की साधना नहीं कर पाते। अत: इन्हें ब्रह्मचर्य का घातक जान परित्याग करें। इनके रहते संते इस व्रत की साधना सम्भव नही है।

सम्प्रति कुसंगति भी एक प्रधान बाधा है। जो इस कुचक्र मे पड़ जाते हैं: वे बुरी आदतों से अपने को बचा नही पाते। क्योकि कहा भी है कि "काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, एक दाग काजर की लागि है पै लागि है।" अत: आवश्यक है कि सगति की जावे अवश्य किन्तु सुसगति ही जो कि व्रत साधना में सहायक सिद्ध हो। बाधक नही।

काम की प्रबलता—पचेन्द्रिय विषयों मे स्पर्श जनित काम वेदना के आगे ज्ञानियो का ज्ञान भी बेकार हो जाता है।[13] इस तथ्य से एक साधु सहमत न था। लेखक ने परीक्षार्थ एक युवती के रूप में उसके निकट जाकर परीक्षा चाही। सूर्यास्त हो रहा था युवती के रूप मे उसने साधु से कहा कि मुझे एक रात कुटिया में रहने दीजिए, किन्तु साधु ने स्वीकृति न दी। रात में मनोहर गीत गाये। गीत सुन साधु से रहा न गया, वे अपने आप को भूल गए। काम वेदना से पीड़ित हो उन्होने कपाट खोलने चाहे किंतु युवती ने बाहर की साकल बन्द कर दी थी। साधु ने सांकल बन्द करने का कारण पूछा—तो युवती ने कहा—आप ही अपने मन से पूछिए कि मेरे ऐसा विकल्प क्यो हो रहा है? आपके हृदय मे कलङ्कमय भाव उत्पन्न हुए बिना मेरे ऐसे भाव नही हो सकते। आप पुरुष हैं किन्तु विकृत हो जाएं तो इस निजन वन मे मेरी कौन रक्षा करेगा। साधु ने बार बार आग्रह किया किन्तु जब युवती ने कपाट नही खोले तब साधु कुटी का छप्पर काट कर काम-वेदना शान्त करने के लिए बाहर आए और उन्होंने देखा कि वह युवती वहा पर नहीं है, युवती के स्थान पर वही पुरुष है जिसने कहा था कि काम-वेदना के आगे ज्ञानियों का ज्ञान बेकार हो जाता है। साधु लज्जित हुआ और उसने इस कथन को स्वर्णाक्षरों मे लिखने को कहा।

आचार्य रविसेन का इस सम्बन्ध में कथन है कि "सूर्य तो दिन में निकलता है पर काम रात-दिन। सूर्य का तो आवरण है पर काम है आवरणहीन।"[१४] इसी प्रकार भर्तृहरि का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि काम को खण्डित करने वाले विरले ही मनुष्य हैं।[१५] अतः काम प्रबल है, बलवान भी इसके आगे नत मस्तक हैं। ज्ञानी भी पराजित है, फिर भी अजेय है ऐसा नही कहा जा सकता। भेद विज्ञानियों ने इसे पराजित किया है। यथार्थ मे जितने लोग काम के वशीभूत हुए हैं उनके वशीभूत होने का कारण रहा है भेद-विज्ञान का अभाव।

प्रथमानुयोग में देशभूषण और कुलभूषण दो राजकुमारों का वृत्तान्त मिलता है। वे पढ़कर गुरु-गृह से अपने घर आते हैं। उनके स्वागत मे मां के साथ एक कन्या भी उनकी आरती उतारने खड़ी है। दूर से उस कन्या को देख कामासक्त दोनों राजकुमार उसे पाने के लिए झगड़ने लगते हैं। दोनों को झगड़ते देख माँ ने झगड़े का कारण पूछा। कारण ज्ञात कर उसने कहा—तुम दोनों व्यर्थ ही झगड़ रहे हो, यह तुम्हारी बहिन है। दोनों का चित्त ग्लानि से भर गया। जाग गया उनमे भेद-विज्ञान। वे द्वार से ही आंगन की ओर लौट गए और मुनि दीक्षा से कुन्थलगिरी से तप कर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। देखिए ऐसा परिवर्तन कैसे हुआ? इसमें एक मात्र कारण है भेद-विज्ञान। अमृतचन्द्राचार्य ने ठीक ही कहा है—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा. ये किल केचन॥

कवि द्यानतराय का चिन्तन—कवि ने दशलक्षण-पूजा में "ब्रह्मभाव अन्तर लखो" कह कर सकेत किया है कि ब्रह्म भाव अन्तर मे ही देखना चाहिए।[१६] तात्पर्य यह है कि जब तक आन्तरिक प्रवृत्तिया ठीक नहीं होगी, अन्तर से ब्रह्म की साधना नही होगी, केवल बाह्य साधना फलीभूत नही होगी। जितने ऋषि-महा-ऋषि, ज्ञानी-ध्यानी, ब्रह्मचर्य से च्युत हुए हैं, उनमें निश्चित ही ब्रह्म साधना अन्तर मे न थी भले ही वे ब्रह्म का ऊपरी आवरण ओढ़ हुए रहे हैं। ऐसे लोग इन्द्रिय विषयों को रोकते हैं, उनका दमन करते हैं। स्वयमेव विषय जनित प्रवृत्ति शान्त नही होती। यही कारण है कि समय पाकर दबी हुई विषयज प्रवृत्तियाँ पुनः उत्पन्न हो जाती है। विषयों को छोड़ना तथा विषयों का छूट जाना इसमें महान् अन्तर है। छोड़ने में उनके प्रति रहने वाला राग-भाव नहीं छूट पाता जबकि छूट जाने में किंचित भी राग-भाव शेष नहीं रहता।

भगवान महावीर के सम्बन्ध में जो यह कहते हैं कि "वे राज-पाट छोड़कर चले गए थे" झूठ कहते हैं। उन्होंने राज-पाट छोड़ा नही था छूट गया था। वस्तुओं के प्रति राग-भाव उनका समाप्त हो गया था और यही कारण था कि माता-पिता के अनेक प्रकार के आग्रह करने पर भी वे पुनः नही लौटे। कभी विषयों ने उन्हें नहीं लुभाया।

ब्रह्मभाव निश्चित है। जब अन्तर मे उत्पन्न होगा तो बाह्य प्रवृत्तियाँ स्वयमेव वैसे ही प्रवर्तित होगी। विषयों की फिर दाल नहीं गलेगी। ब्रह्मचर्य की साधना पूर्ण होगी और नर भव सफल होगा इसमें दो मत नहीं है।[१७]

नारी और ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे चर्चा चलने पर प्रायः नारी को चर्चा का विषय बनाया जाता है। उसे बुरा कहा जाता है। आचार्य रविसेन ने स्त्री को संसार मे समस्त दोषों की महान् खान कहा है। उनका कथन है कि ऐसा कौन-सा निन्दित कार्य है जो उनके लिए न किया जाता हो।[१८] कवि द्यानतराय ने भी "ससार मे विष बेल नारी तज गये योगीश्वरा" कह कर नारी को विष बेल की उपमा दी है।[१९]

जैन दर्शन के तत्वज्ञदर्शी विद्वान स्व० कानजी स्वामी ने इस सम्बन्ध में कहा था कि ऐसा कथन निमित्त की अपेक्षा से हैं। वास्तव में स्त्री ससार का कारण नही है। उन्होंने दलील दी है कि यदि नारी बुरी है तो पूर्व भवों मे भी अनन्त बार द्रव्यलिंगी साधु हुआ, उसने स्त्री का संग छोड़ा, ब्रह्मचर्य पालन किया, फिर भी उसका कल्याण क्यो नही हुआ?[२०] किसी हिन्दी कवि का कथन भी यहां उल्लेखनीय है। नारी पुरुष से कहती है—

अन्धकार की मैं प्रतिमा हूं जब तक हृदय तुम्हारा।
तिमिरावृत है तब तक ही मैं, उस पर राज्य करूंगी॥
और जलाओगे जिस दिन तुम, मुझे हुये दीपक को।
मुझे त्याग दोगे वसन्त मे, रजनी की माता सी॥

इन उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि नारियां बुरी नहीं हैं। उन्हें जो बुरा बताया जा रहा है,

उनकी जो निन्दा की जा रही है, वह केवल निमित्त अपेक्षा से है। जब तक अज्ञान है तभी तक नारीगत सुखों में जीव मग्न रहता है। ज्ञान किरण के उदय होतेही नारियों का संग छोड़ना नहीं पड़ता स्वयमेव छूट जाता है। चक्रवर्ती भरत चूकि भेद-विज्ञानी हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, यही कारण था कि ९६ हजार रानियां होते हुए भी स्वप्न में भी उनके अन्तर मे किंचित भी स्त्री राग उत्पन्न नहीं हुआ। गुरु गोपालदास जी बरैया और पण्डित दयाचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, सागर के नाम भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं। जिन्होंने स्त्रियों के साथ रहते हुए भी निज कल्याण किया है।[11] अत: यह स्पष्ट है कि नारियां निन्दित नही हैं और न उनकी निन्दा ही की जानी चाहिए। जहाँ कही भी ऐसा कथन मिलता है उसमें विषयो के प्रति विरक्ति उत्पन्न करना ही लेखक का लक्ष्य रहा ज्ञात होता है।

नारियां आज भी साधक सिद्ध हो रही हैं। पूज्य वर्णी जी ने अपनी जीवन गाथा में लिखा हे कि "मैं पण्डित ठाकुरदास जी के पास पढ़ता था। वे बहुत विद्वान थे। उनकी दूसरे विवाह की पत्नी थी पण्डित जी की जब दो संतान हो चुकीं तब एक दिन पण्डितजी की नवोढा पत्नी ने कहा पण्डित जी अपने दो सन्तान—एक पुत्र व एक पुत्री हो चुके हैं अब पाप का कार्य बन्द कर देना चाहिए। पण्डित जी उसकी बात सुनकर कुछ हीला-हवाला करने लगे तो वह स्वयं उठ कर पंडित जी की गोद में जा बैठी और बोली कि अब तो आप मेरे पिता तुल्य हैं और मैं आपकी बेटी। पंडित जी गद् गद् स्वर मे बोले—बेटी! तू ने तो आज वह काम कर दिया जिसे मैं जीवन भर अनेक शास्त्र पढ़ कर भी न कर सका। उस समय से दोनो ब्रह्मचर्य से रहने लगे।[12]

इस दृष्टान्त से भी यही अर्थ प्रतिफलित होता है कि नारी संग बुरा नही है, बुरा अज्ञान भाव है जो स्त्री राग बनाए रहता है। यथार्थ में कारणों के अभाव में व्रत की साधना तो सम्भाव्य है किन्तु कारणों के रहते हुए व्रत की साधना बिना भेद-विज्ञान हुए सम्भव नही है। कारणों के सद्भाव में व्रत की साधना का अपूर्व फल होता है। देखिए असिधारा व्रत का प्रभाव।

प्रथमानुयोग में अनेक प्रेरक दृष्टान्त मिलते हैं। असिधारा-व्रत के सम्बन्ध मे कहा गया है कि इस व्रत के धारी पत्नी-पति दोनो साथ-साथ रहते हुए भी दोनों मे से पति एक पक्ष में ब्रह्मचर्य से रहने का नियमधारी होता है और पत्नी द्वितीय पक्ष में। इस प्रकार व्रत के धारी जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करते है। इस व्रत के प्रभाव से ऐसे व्रती जहां आहार करते हैं वहा बांधा गया चन्दोवा भी अपनी मलिनता त्याग सफेद हो जाता है। ऐसे मुनियों को अहार देने से कहा गया है कि जीवानी नीचे गिर जाने से उत्पन्न दोष का निवारण हो जाता है।

अत: इस दृष्टान्त के परिप्रेक्ष्य मे भी नारियां निन्दनीय प्रतीत नही होती। व्रत साधना मे आवश्यक है कि चित्त मे नारी जनित विकृति उत्पन्न न होने देना। उनके सद्भाव मे भी पारणामिक निर्मलता बनाए रखने रखना। निर्मलता भी ऐसी जैसी लक्ष्मण के चित्त मे थी।

जब राम अपने भाई लक्ष्मण को सीता के केयूर कुंडल आदि आभूषण दिखाते हैं तो लक्ष्मण ने कहा था कि—मैं भाभी के कुण्डल, केयूर आदि नही जानता, मैं तो केवल भाभी के पैर मे पहने हुए सुहाग-चिन्ह स्वरूप बिछुओ को ही जानता हूं, क्योंकि प्रति दिन चरण-स्पर्श करते समय मेरी दृष्टि उन पर पड़ती थी।[13]

लेखक की दृष्टि में ब्रह्मचर्य धर्म—बहु चर्चित "धर्म के दशलक्षण" पुस्तक के लेखक ने स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन के त्याग रूप व्यवहार ब्रह्चर्य को ही ब्रह्मचर्य माना है। वहां पर अपने कथन की विशद् व्याख्या की है। यथार्थ मे इस स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन से त्याग के लिए आचार्यो ने यद्यपि बार बार कहा है, दृष्टान्त भी दिये हैं अवश्य, परन्तु इसका तात्पर्य आचार्यों का यह कदापि नही है कि वे अन्य शेष इन्द्रियों के विषय का त्याग न करें। यदि हम उनके कथन के अन्तर मे झांकने का प्रयास करें तो ज्ञात होगा कि उनका कथन वैसा नहीं था जैसा कि विद्वान लेखक ने समझा है क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना तभी सम्भव है जब साधक अन्य शेष इन्द्रियों के विषय का भी त्याग करें। कामोत्तेजक गरिष्ठ भोजन का उसे साधना हेतु त्याग करना ही पडता है, इसी प्रकार सुगन्धित पदार्थो का सूंघना, कामोत्तेजक कथाओंका श्रवण

स्त्री आदि का दर्शन-स्मरण भी छोड़ना होता है क्योंकि इन सद्भाव में ब्रह्मचर्य की साधना सम्भव नहीं है। आचार्यों ने अलग इन्द्रिय विषय सेवन के त्याग की चर्चा न कर उन्हें स्पर्शन इन्द्रिय के विषय-सेवन त्याग में उसी प्रकार सम्मिलित कर दिया है जैसे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने अपने चातुर्याम मे (परिग्रह में) ब्रह्मचर्य को सम्मिलित कर दिया था।

अतः केवल मैथुन के अभाव को ही ब्रह्मचर्य मानना या कहना युक्ति सगत नहीं है। आचार्यो की भी ऐसी भावना नहीं थी। इस धारणा से तो ऐकेन्द्रिय जीवो को भी ब्रह्मचारी मानना पड़ेगा। आचार्यों के कथन मे उक्त भावना अन्तर्निहित रही ज्ञात होती है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सभी इन्द्रिय विषयो का त्याग अपेक्षित है। आचार्य उमा स्वामी ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अनाचार और भावनाओं का उल्लेख क्यों करते यदि उनकी या परम्परागत अन्य आचार्यों की दृष्टि मे स्पर्शन इन्द्रिय विषय के सेवन का त्याग ही ब्रह्मचर्य होता हो।

सारांश यह है कि व्रत की साधना ज्ञान के बिना नही। अतः हम स्वाध्याय करें। ब्रह्मचर्य से ही जीव ससार से पार होता है। उसके बिना व्रत तप सब असार है। ब्रह्मचर्य के बिना जितने काय-क्लेश किये जाते हैं वे सब निष्फल है।[14] अतः आचार्यों के निर्देशानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करे। विषयों की रुचि छोड स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री के समान माने। क्योंकि जैसे कुम्हार के चाक का आधार कीली है, चाक पर रखे हुए मिट्टी के पिंड से जैसे विविध रूप बनते हैं। इसी प्रकार ससार रूपी चाक का आधार स्त्री है, जीव उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार के विकार करके चारो गतियों में भ्रमता है।[15] इसी धर्म की रक्षार्थ केवली जम्बू स्वामी नव-विवाहिता पत्नियों को त्याग दीक्षित हुए थे।

इस धर्म के सम्बन्ध मे मुख्यतया पुरुष को सकेत कर कहा गया है, परन्तु पुराणो मे ऐसे कथानक भी उपलब्ध हैं जहां नारियो ने पुरुषो को शील से च्युत करने का प्रयास किया है। सेठ सुदर्शन के ऊपर झूठा आरोप रानी ने लगाया ही था, उसे फांसी भी लगवा दी थी किन्तु सेठ के ब्रह्मचर्य का माहात्म्य था कि शूली भी फूल की सेज बन गई थी। इसी प्रकार सीता के लिए अग्नि कुण्ड, नीर हो गया था। अतः आवश्यक है कि जीवन सफल बनाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करें, यही है इस धर्म के उपदेश का सार।

सन्दर्भ-सूची

१. उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयम तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः तत्वार्थ सूत्रः अध्याय ६, सूत्र ६।

२. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निबर्हणम्
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचारः श्लोक २

३. गुरुवाणी : ई० १६७६, पृष्ठ ८

४. पं० दौलतराम छहढालाः ढाला १ पद्य २

५. तत्वार्थसूत्रः अध्याय ७, सूत्र १६

६. यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म
—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः श्लोक १०७;

७. डा० हुकुमचन्द्र भारिल्ल, धर्म के दश लक्षण : उत्तम ब्रह्मचर्य टिप्पण—१-२

८. हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहते तिलायद्वत्
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।
पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः श्लोक १०८

९. रक्तजाः कृमयः सूक्ष्माः मृदु मध्यादि शक्तयः
जन्मवर्त्मसु कण्डूति जनयन्ति तथा विधाम्।
प० बलभद्र जैन, अहिंसाध्वनिः पृ० २३२ टिप्पण-२

१०. सोऽस्ति स्वदार सन्तोषी योऽन्यस्त्री प्रकटस्त्रियौ
न गच्छत्यहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा।
पं० आशाधर जी, सागार धर्मामृत; ४/५२

११. स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्ग निरीक्षण पूर्व रतानुस्मरण वृष्येष्ट रसस्वशरीरं सस्कार त्यागाः पंच।
तत्वार्थ सूत्रः अध्याय ७, सूत्र; ७;

१२. परविवाह करणेत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीता गमनानग क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः।
वही, अध्याय ७, सूत्र २८; और सागारधर्मामृतः ४/५८;

१३. बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति
उपदेश दृष्टान्त मालिका : भाग २' पृ० ६०

१४. दिवा तपति तिग्मांशुर्मदनस्तु दिवानिशम्
समस्ति वारणं भानोर्मदनस्य न विद्यते।
पद्मपुराण : पर्व १०६, श्लोक ५०१

(शेष पृ० २२ पर)

आधुनिक युग में जैन-सिद्धान्तों का महत्त्व

□ डा० (कुमारी) सविता जैन,

बीसवीं शताब्दी मे भी जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धान्त उतने ही महत्वपूर्ण एवं सार्थक हैं जितने कि आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समय मे थे, बल्कि आज के इस अति भौतिकवादी एव यान्त्रिक युग में जबकि आणविक विनाश के काले बादल हर क्षण हर व्यक्ति के सिर पर मंडराते रहते हैं इनकी चहुंमुखी उपयोगिता इन्हें और भी अधिक अर्थवान एवं महत्वपूर्ण बना देती है।

जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्त न केवल व्यक्तिगत अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आधुनिक युग की समस्याओं को सुलझाने मे फ्रायड, मार्क्स अथवा लेनिन जैसे विचारकों के सिद्धांतों से कही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि इन अथवा इन जैसे अधिकांश विद्वानों की दृष्टि एकांगी थी जबकि जैन-दर्शन अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि के कारण किसी भी समस्या को हर सम्भव दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है।

सर्वोदय को आज लोग गांधी जी की देन मानते है लेकिन आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जबकि समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का बोलबाला था और शूद्रों को न केवल मानव के सामान्य अधिकारो से वंचित कर रखा था अपितु उन्हें पतित मानकर अन्याय, दमन और शोषण के कुचक्र में पीसा जा रहा था, महावीर ने मानव-मात्र की समानता का सन्देश देते हुए सबके उदय का जयघोष किया था।

इसी प्रकार यदि गहराई से जैन-दर्शन एवं सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाय तो फ्रायड का मनोविश्लेषण, मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, आईंस्टाइन का सापेक्षता का सिद्धान्त, जिन्हें हम आज के युग की महत्वपूर्ण देन मानते हैं, सभी वहाँ किसी-न-किसी रूप में उपस्थित मिलेंगे। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड के मतानुसार हमारे अन्तर्गत का ३/४ हिस्सा अचेतन में छिपा हुआ है, जिसमे सामान्यतः व्यक्ति अपरिचित होता है: और वही समस्त मानसिक विकारो के मूल मे किसी न किसी रूप मे निहित होता है। जैन-दर्शन मे दृष्टि को अन्तर्मुखी कर, भेद-विज्ञान द्वारा उसे 'पर' से विमुख कर 'स्व' को जानने और पहचानने पर विशेष बल दिया गया है। फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोविज्ञान वेत्ताओं का मनःविश्लेषण (Psycho-analysis) इससे भिन्न नहीं है अपितु 'स्व' के इस विश्लेषण की पहली सीढ़ी मात्र है।

कार्ल मार्क्स ने जिस सम वितरण की चर्चा की है वह जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धान्त अपरिग्रह का ही एक छोटा-सा अंश मात्र है। किसी भी भौतिक वस्तु का आवश्यकता से अधिक सचय न केवल व्यक्ति के नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी होता है अपितु समाज में वर्ग-भेद को भी जन्म देता है। ऐश्वर्य अथवा सत्ता की लालसा न केवल भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी कर देती है अपितु दो राष्ट्रों को भी युद्ध के भयानक कगार पर ला खड़ा करती हैं। आइंस्टाइन के सापेक्षता के सिद्धान्त और अनेकान्तवाद मे भी मूलतः एक ही विषय को वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणो के अन्तर से भिन्न शब्दावली मे, भिन्न रूपों मे प्रस्तुत किया गया है।

सह-अस्तित्व की भावना तथा अनेकता मे एकता की स्थापना आज राष्ट्रीय एकता की अखंडता के लिए अत्यधिक आवश्यक है। जैन धर्म का प्राण तत्व है अहिंसा जो न केवल व्यक्तिगत स्तर पर जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाकर मानव को एक उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकता है अपितु 'वसुधैव कुटुम्बकं' की भावना को जागृत कर विश्वशान्ति की सम्भावनाओं को साकार रूप देने में सहायक हो सकता है। यहाँ 'अहिंसा' शब्द का मात्र अभिधापरक अर्थ न लेकर उसे इतने अधिक विस्तृत रूप में ग्रहण किया गया है कि उसमें 'स्व' और 'पर' की सीमा

रेखा का लोप हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति सभी प्राणियों को आत्मतुल्य नहीं समझेगा तब तक वह पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता। जैसी भावना हम अपने प्रति रखते हैं यदि वैसी ही दूसरों के प्रति भी रखें तो समाज से शोषण एवं उत्पीडन स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। सच्चा अहिंसक न केवल मानव-मात्र की समानता मे विश्वास करता है अपितु संसार के लघुतम जीव के लिए भी उसके 'उर से करुणा स्रोत' बहता है। ऐसे में जाति-भेद एवं वर्गभेद की दीवारों का खोखला होकर ढह जाना स्वाभाविक है।

अहिंसा का अर्थ पलायन अथवा कायरता कदापि नहीं है। अहिंसक तो निर्भय होकर जीवन-संग्राम से जूझता है और सुख दुःख को समभाव से ग्रहण करता है, जिसके लिए अपराजेय मनोबल, धैर्य और संयम की आवश्यकता है, जबकि इसके ठीक विपरीत कायर हिंसा को झेलने में असमर्थ होकर प्रतिहिंसा से भर उठता है अथवा पलायन-वादी बन जाता है। हिंसा का हिंसा द्वारा प्रतिकार उसकी सत्ता को स्वीकारना है जबकि अहिंसक के लिए उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसीलिए गांधी जी ने हिंसा की पूर्ण उपेक्षा ही उसका सही प्रतिकार माना था। अहिंसा और करुणा का मधुर संगीत प्राणिमात्र को आह्लादित कर निर्भय बनाता है।

सह-अस्तित्व की भावना तथा अनेकता में एकता की स्थापना (अनेकान्तवाद) आज राष्ट्रीय एकता की अखंडता के लिए अत्यधिक आवश्यक है। जैन धर्म के पंच महाव्रतों द्वारा उन समस्त मानवीय वृत्तियों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है जो व्यष्टि एवं समष्टि सभी के लिए अहितकर हैं, जो व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य राग-द्वेष; हिंसा-घृणा एवं ऊँच-नीच की दीवारें खड़ी कर देती हैं और सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र वे जगमगाते हुए अमूल्य रत्न हैं जिन्हें पाकर और कुछ पाना शेष नही रह जाता, जो व्यक्ति की क्षुधा को सदा के लिए शान्त कर उसे अमरत्व की राह दिखाते हैं।

आणविक युद्ध की विभीषिकाओं से आतंकित, अमानुषिक हत्याओं, चोरी-डकैती से संत्रस्त तथा दिनों-दिन बढ़ते भ्रष्टाचार के पाशविक पंजों में जकड़े, मुक्ति के लिए छटपटाते आज के मानव के लिए जैन सिद्धान्त इसी प्रकार महत्वपूर्ण एवं शान्तिदायक सिद्ध हो सकते हैं जैसे रेत से तपती, जलती हुई मरुभूमि के मध्य निर्मल एवं शीतल जल का सुखद 'ओएसिस'।

७/३५, दरियागंज नई दिल्ली

(पृ० २० का शेषांश)

१५. मत्तेभ कुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्ड मृगराज वधेऽपि दक्षाः
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्प दर्प दलने विरला मनुष्याः।

१६. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि; दशलक्षण धर्म पूजा पृ० ३१२

१७. शीलबाढ़ नौराख ब्रह्मभाव अन्तर लखो
करि दोनों अभिलाख करहु सफल नरभव सदा।
वही :पृ० ३१२

१८. जीवलोकेऽबला नाम सर्वदोष महाखनिः
किं नाम न कृते तस्याः क्रियते कर्म कुत्सितम्।
पद्मपुराण : पर्व १०६ श्लोक २१७

१९. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि : दशलक्षण पूजा

२०. ब्र० हरिलाल जैन, दश लक्षण धर्म पृ० ७६

२१. लेखक की गृहिणी मतक अप्रकाशित रचना

२२. दश लक्षण धर्म : शास्त्रि परिषद् प्रकाशन

२३. नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले
नूपुरे त्वभि जानामि नित्यं पादाभिनन्दनात्।

२४. नेणा सहुजि लब्भऊ भवपारउ, बभय विणु तउजि असारउ बंभव्वय विणु कायकिलेसो विहल लसय श्रासियऊ जिणेसो। एलाचार्य मुनि विद्यानन्द गुरुवाणी पृ० ६६

२५. यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्ण दुःखौघधारम्
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृति भ्रान्ति संसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलकमतिः शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिव हरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम्
पद्मनन्दि पंचविंशतिका : श्लोक १०४

—जैनि विद्या०
श्री महावीर जी

श्रुत-स्वाध्याय का फल

उष्ट्र देश के धर्मनगर का राजा यम सम्पूर्ण शास्त्रों का जानने वाला बड़ा भारी विद्वान था। उसकी मुख्य रानी का नाम धनमती था। उसके दो सन्तान थीं। एक पुत्र जिसका नाम गर्दभ था, और एक पुत्री जिसका नाम कोणिका था। राजा की और भी बहुत सी रानियां थीं, जिनसे पांच सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। राज्य मंत्री का नाम दीर्घ था।

एक बार एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि जो कोई पुरुष कोणिका को ब्याहेगा वह सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी होगा। तब राजा यम ने इस डर से कि कभी वह मेरा भी राज्य न छीन ले, कोणिका को एक भोंहरे (भूमि-गृह) में छुपा दिया। केवल एक दो सेवक इसकी खाने-पीने आदि की सार सँभाल के लिए रख दिए गए, वे ही इस विषय को जानते भी थे। उन्हें इस बात की कठिन आज्ञा थी कि इस विषय को किसी से न कहें।

एक बार धर्मनगर में पांच सौ यतियों के संघ सहित श्री सुधर्माचार्य का आगमन हुआ। उनकी वन्दना के लिए सम्पूर्ण नगर निवासी बड़े उत्साह के साथ चले जा रहे थे। उन्हें देख कर राजा यम अपनी विद्या के घमण्ड में आकर मुनियों की निन्दा करने लगा; और शास्त्रार्थ में हरा देने के विचार से उनके पास गया। परन्तु जिस मतलब से वह वहां से चला था, उसे भूल गया। वहां पहुंचते-पहुंचते मुनिराज के प्रभाव से उसका घमण्ड जाता रहा, इसलिए उसने सुधर्म गुरु को नमस्कार किया और धर्म श्रवण कर अपने गर्दभ पुत्र को राज्य दे अन्य पांच सौ पुत्रों सहित वह मुनि हो गया। कुछ काल में वे सब मुनि (पुत्र) तो सम्पूर्ण आगमों के पाठी हो गए, परन्तु यम मुनि को पंच-नमस्कार का उच्चारण मन्त्र भी ठीक से नहीं आया। यह दशा देख गुरु ने बहुत निन्दा की। तब उससे लज्जित हो, यम मुनि अपने इस कर्म की निर्जरा के लिए उपाय पूछ तीर्थक्षेत्रों की वन्दना को अकेले ही निकल पड़े।

मार्ग में एक यव (जौ) के खेत के पास से एक पुरुष गधे के रथ पर चढा हुआ जा रहा था। सो वह कभी तो गधे को यव चराने के लिए उस रथ को खेत मे ले जाता और कभी बाहर ले आता था। यह देख कर यम मुनि ने निम्नलिखित खण्ड श्लोक बना कर पढ़ा;—

"कड्ढं पुणणिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पच्छेसि खादिउं"

अर्थात् "रे मूर्ख, तू जवो को खिलाने के लिए गर्दभ को क्यो बार बार निकालता और पैठाता है ?"

पश्चात् आगे चलकर दूसरे दिन मार्ग में कुछ बालक खेल रहे थे, उनके खेलने की एक काठ की कोणिका किसी गड्ढे में जा पड़ी। बालक उसको ढूढ़ने के लिए इधर-उधर फिरने लगे। सो उन्हें देखकर यम मुनि ने एक दूसरा खण्ड श्लोक पढ़ा :—

"अण्णत्थ किं पलोवसि तुम्हे एत्थम्मि
णिब्बुड्डिया छिद्दे अच्छइ कोणिया"

अर्थात् "रे मूर्ख बालको, तुम यहां वहां क्यों ढूंढते फिरते हो, कोणिका बिल में पड़ी है।"

पश्चात् वहां से चलकर एक दिन उन्होंने एक मेंढक को अपने डर से कमल पत्र में छिपते हुए देखा। परन्तु जिस ओर को वह जा रहा था, उस ओर से एक सांप आ रहा था। तब आपने तीसरा खंड श्लोक बनाकर पढ़ा:—

"अम्हादो णत्थि भयं दीहादो भयं दीसते तुम्ह।"

अर्थात् "रे मेंढक, तुझे मुझसे भय नहीं करना चाहिये, परन्तु दीहादि अर्थात् सांपादि से तुझे भय की संभावना है।" इस प्रकार तीन खंड श्लोक बनाकर यम मुनि ने आगे गमन किया। और अन्य कोई पाठादि न आने

से इन्हीं का स्वाध्यायादि करना प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् जिस समय स्वाध्याय का समय होता, वे इन्ही तीन खंड श्लोकों का पाठ किया करते थे। निदान विहार करते हुये वे धर्म नगर के बाग में जा, कायोत्सर्ग ध्यान-पूर्वक ठहरे। यह वही नगर था, जहा कि ये पूर्व में राजा थे। इनके आने की खबर सुन गर्दभ राजा और दीर्घमन्त्री ये दोनों यह समझ कर कि कहीं ये हमारा राज्य लेने को न आए हों, मारने को आये और यम मुनि के पीछे आ खड़े हो गए। दीर्घमंत्री बार बार मारने के लिए तलवार उठाता परन्तु यह सोच कर कि व्रती का वध करने में बड़ा भारी पाप होता है, फिर रह जाता। और यही हाल गर्दभ का था, अर्थात् वह भी इसी प्रकार तलवार उठा शंकित चित्त हो रह जाता था। इसी समय मुनि के स्वाध्याय का समय हुआ, अतएव उन्होंने अपने पूर्व रचित खण्ड श्लोकों का पढ़ना प्रारम्भ किया और पहले प्रथम खण्ड श्लोक को पढ़ा। उसे सुन गर्दभ ने दीर्घ से कहा—मन्त्री जी, मुनि ने हमको जान लिया। देखो, वे कहते हैं कि "कड्ढं पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जव पच्छेसि खादिउ" अर्थात् "रे गधे, बार बार क्यो तलवार निकालता है, और फिर क्यों भीतर कर लेता है।" पश्चात् मुनि ने दूसरे खण्ड श्लोक का पाठ किया। तब गर्दभ ने अनुमान करके कहा—मन्त्री जी, मुनि हमारा राज्य लेने को नही आये, परन्तु हमको मालूम नहीं है, इसलिए कोणिका को (पुत्री को) बतलाने के लिये आए हैं। देखो, वे कहते हैं कि "अण्णथ किं पलोवसि तुम्हें एथम्मि णिबुड्डिया छिद्दे अच्छइ कोणिया" अर्थात् यहां वहां खोज क्या करते हो, कोणिका बिल में अर्थात् तहखाने मे पड़ी है।" पश्चात् जब मुनि ने तीसरा खण्डश्लोक पढ़ा, तब गर्दभ ने विचार किया कि मुनि यह कहते हैं कि "अम्हादो णत्थि भयं दीहादो भयं दीसते तुब्भ" अर्थात् मेरा भय कुछ नहीं है, तुझे दीहादि अर्थात् दीर्घादि से भय करना चाहिये" इससे जान पड़ता है कि दीर्घ मेरे साथ कुछ दुष्टता करेगा। बेचारे मुनि तो दयावान हैं। मोह के वश मुझे सचेत करने को आये हैं। इस प्रकार श्रद्धान करके वे दोनो मुनि के पैरों पर गिर पड़े और धर्मश्रवण करके श्रावक होगये।

यह देख मुनि भी उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुये और उत्तम चरित्र के प्रभाव से अणिमादि सात ऋद्धिधारी हुए। पश्चात् कुछ दिनों मे घोर तपस्या कर अष्ट कर्मों को खपा कर मोक्ष को चले गये।

सारांश यह है कि इस प्रकार ऐसे श्रुत-स्वाध्याय से भी यम मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए, यदि दूसरे लोग भी श्रेष्ठ शास्त्रों का अभ्यास करें, तो क्यों न अभीष्ट पद को पावें ? अवश्य ही पावें।

—'पुण्यास्रव कथा कोश से'

(आवरण पृष्ठ ३ का शेषांश)

१२. किसी के अवगुण को कषाय से मत देखो, हितकी दृष्टिसे देखना कोई हानिकर नहीं। आत्मश्लाघाके लिए अच्छा कार्य करने का संकल्प मत करो। ऐसे कार्य करो जो लोगोंकी दृष्टिमें मान पोषक न समझे जावें। आवेगमें आकर व्रत ग्रहण मत करो। व्रत ग्रहणका फल निवृत्तिमार्गकी प्राप्तिमें पर्यवसान हो। जो कार्य करो उसका फल उस कार्यकी सामग्री फिर न हो यही लक्ष्य रखना चाहिए। (३०।५।४८)

१३. क्यों परकी ओर देखते हो ? कोई कुछ करे तुम उस ओर लक्ष्य ही मत दो। यदि कोई तुम से कहे—'बड़े अज्ञानी हो' सुन कर शान्त रहो। शब्द वर्गणाएँ पुद्गलका परिणमन हैं, उनका तादात्म्य पुद्गलसे है, वाच्यार्थसे नहीं। वाच्यार्थ काल्पनिक है जिससे लौकिक व्यवहार चल रहा है। (३ । ६ । ४८)

तीर्थंकर महावीर और अपरिग्रह

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

हर साल महावीर जयन्ती मनाते हैं और गत दिनों भी महावीर जयन्ती मनाई गई। यह सिलसिला काफी बरसों से चला आ रहा है। हमारी दृष्टि में यह सब दिखावा लोक-रंजन के लिए ही हो रहा है। आज प्रचलित रीति के लोगो ने महावीर को न जाना है और ना ही जानने की कोशिश की है। लोगो को तो जयन्ती ऐसा उत्सव बन कर रह गया है, जिसके माध्यम से उनका मन तुष्ट हो जाता हो। वरना, इनसे कोई पूछे कि महावीर का क्या रूप था; उनके क्या उपदेश थे? तो ये उन्ही बातों को दुहराएँगे जो चिरकाल से इनके दिमागो मे घर किए हुए हैं और जिनके मूल में साम्प्रदायिक पक्षपात का भाव है। कोई कहेगा—वे श्वेताम्बर थे तो कोई कहेगा वे दिगम्बर थे। कोई कहेगा कि—महावीर हमारे थे और कोई कहेगा हमारे थे। सभी की मान्यता है कि महावीर ने अहिंसा का झण्डा गाड़ा—'अहिंसा परमो धर्मः' उनका मूल नारा था, आदि।

जब हम उक्त बातों पर विचार करते हैं तो यह बात तो निर्विवाद सिद्ध होती है कि केवली अवस्था मे तीर्थंकर महावीर सर्वथा दिगम्बर थे। उनम भौतिक अम्बर या अम्बरान्तरों की कल्पना सर्वथा ही मिथ्या है। यतः जैन-धर्मानुसार प्रत्येक वस्तु अपने में पूर्ण होती है, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है, उसमें 'स्व' के सिवाय पर का प्रवेश सर्वथा ही नहीं होता। एतावता न कोई वस्तु स्वाभाविक रूप में मलिन है और न न्यूनाधिक है। भला सोचो, जब हम महावीर को पूर्ण और भगवान मानने चले हैं तब क्या हम इसे पसन्द करेंगे कि वे मलिन, न्यून या अधिक जैसे कुछ हों। यदि वे मलिन थे तो भगवान कैसे? न्यून थे तो केवलज्ञानी कैसे? और अधिक थे तो पर-सयुक्तरूप में स्व-स्वभावी कैसे?

उक्त सभी बातों के निर्णय के लिए जैन धर्म ने एक कसौटी दी है। जैसे स्वर्ण को कसौटी पर कसकर उसके गुण-दोषों की परीक्षा की जाती है वैसे ही भगवान-रूप की पहिचान के लिए जैन-दर्शन में 'अपरिग्रह' रूप कसौटी का निर्धारण किया गया है। जो अपरिग्रही हो वह शुद्ध और जो परिग्रही हो वह अशुद्ध होता है। अब यह आपको देखना है कि भगवान महावीर शुद्ध थे या अशुद्ध?

जहां तक वाह्य अम्बरादि परिग्रह का प्रश्न है, सभी मानते हैं कि तीर्थंकर महावीर केवलज्ञान अवस्था (जिसके कारण वे सर्वज्ञ भगवान कहलाए) में पूर्ण अपरिग्रही—नग्न ही थे। दिगम्बरों के अनुसार दीक्षा काल से ही और श्वेताम्बरों के अनुसार केवलज्ञान प्राप्ति के १०-११ वर्ष पूर्व से। कहा भी है—**'समणं भगवं महावीरे संवच्छर साहियं मासं ताव चीवर धारी हुत्था। तेणं परं अचेले पाणिपडिगाहिए।'**—कल्पसूत्र। अन्तरंग परिग्रह त्याग के विषय में जैन के सभी पन्थों में परस्पर सामंजस्य है—सभी मानते हैं कि वे वीतरागी थे।

पर, जब हम वीतराग 'जिन' और उनके धर्म 'जैन' की बात करते हैं तब हम पहिचान करने में जिन-मार्ग से स्खलित हो जाते हैं। तत्कालीन स्थिति के प्रभाव में हम कभी कहते हैं—'महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया। कभी सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया ऐसा कहते हैं। गरज मतलब यह कि, हम जैसा अवसर देखते हैं तदनुरूप कल्पनाओं में महावीर का उपदेश फलित करने लगते हैं और वैसा प्रचार करने लगते हैं और यह भूल जाते हैं कि वीतरागी महावीर वीतरागता के कारण ही अहिंसक बने, उनमे सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि धर्म भी वीतरागी—अपरिग्रही होने से ही फलित हुए। काश, वे परिग्रहधारी रहे होते तो न उनमें अहिंसा होती न सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य ही होते। फिर, 'जिन' और 'जैन' में अन्यों से कुछ

ऐसी विशेषता तो होनी ही चाहिए जो औरों में न हो। सो यह विशेषता है—उनका अपरिग्रही होना। जब संसारी मत-मतान्तर अहिंसा, सत्य अचौर्य और ब्रह्मचर्य पर जोर देते हैं तब जैनधर्म इन सबके मूल अपरिग्रह को प्रमुखता देता है, यही 'अपरिग्रह' महावीर का मार्ग है शेष अहिंसादि सभी इसी पर आधारित हैं।

स्थिति ऐसी है कि आज हम मोक्षमार्ग को बिसराकर सांसारिक वासनाओं के कीड़े बन चुके हैं और सांसारिक प्राणियों की हाँ में हां मिलाए बिना हमारा गुजारा नहीं चल सकता। फलत.—हम नीति से काम लेने के अभ्यासी जैसे बन गए हैं। जब कि नीति-राजनीति और धर्म आपस में बहुत दूर; यहां तक कि परस्पर विपरीत दिशाओं के मार्ग हैं। उदाहरणतः—लोक मे नीति है कि पानी मे रह कर मगर से बैर नही किया जाता—'मगर' जैसे हिंसक प्राणी की असलियत जानते हुए भी उसे भइया, बद्दा आदि जैसे संबोधन देने पड़ते हैं। पर इससे मगर का मगरपन तो छूट नहीं जाता। हां, उसकी झूठी प्रशंसा से भौतिक प्राण-रक्षा अवश्य हो जाती है। उसी प्रकार स्वार्थ-वासना प्रेरित मनुष्य जब दूसरों में बैठता है तब वह अपनी हृदयगत कमजोरी छुपाने या यश-प्रशंसा आदि के लालच में दूसरों की हां मे हां मिलाता है और अपरिग्रह को गौण कर उससे फलित जैन के अहिंसादि को प्रमुखता देने लगता है। ऐसा करने से यद्यपि वह क्षणिक या दीर्घ-सांसारिक लाभ तो प्राप्त कर लेता है पर अपना मूल-धर्म गँवा बैठता है। हाँ मे हाँ मिलाना, तो मुँह-देखी कहना हुआ, परावलम्बन हुआ, और हुआ राजनीति प्रेरित लौकिक-रक्षण। जबकि धर्म स्वावलम्बी और पारलौकिक सुख प्राप्ति का साधन है। यदि हम हां मे हाँ मिलाने की बजाय हिम्मत के साथ अपनी मूल बात कहें तो हमारे लौकिक-पारलौकिक दोनों ही मार्ग सध सकते है। क्योंकि हमारी मूल बात है—अपरिग्रह और इस अपरिग्रह से वे सब बातें स्वयं फलित हो जाती हैं जिन्हें सर्वसाधारण अहिंसा आदि के रूप में कहते हैं। यदि प्राणी अपरिग्रही होगा तो उसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि स्वयं ही होंगे। इसीलिए वीतराग भगवान ने जीवो के समक्ष अपने साक्षात् दिगम्बर-रूप द्वारा और उपदेश द्वारा भी अपरिग्रह का पाठ रक्खा जिसे हमने भुला दिया और उसके फलीभूत अहिंसादि धर्मों में अटक गए।

अपरिग्रह को गौण करके अहिंसा, दया आदि को प्रधान बताने मे मानव की एक और कमजोरी कारण बनी मालुम होती है और वह कमजोरी है—मनुष्य का विषय-वासना का कीड़ा बनना, इन्द्रियों का दास बनना। वासना-सक्त प्राणी जब अपने को विषयों का दास बना बैठता है तब वह भौतिक परिग्रह आदि सामग्री को त्यागने से कतराता है - उसे नही छोड़ पाता और छोड़ना नही चाहता। फलतः वह धार्मिक बने रहने का कोई अन्य मार्ग ढूंढ़ता है। प्रतीत होता है कि बाद के जैन-नामधारियों ने ऐसा ही मार्ग अपनाया। उन्होंने सोचा कि हमे कुछ छोड़ना भी न पड़े और हम सस्ते मे धर्मात्मा, दयालु और दानी बन समाज मे प्रतिष्ठित होते रहें। बस, उन्होने मूल नारे को अहिंसा जैसे गौण नारो मे विलीन कर दिया। इसके लिए वे अहिंसादि का सूक्ष्मरूपता में विवेचन कर दूसरों से अपनों को ऊंचा मानने का प्रयत्न भी करने लगे। इससे वे लाख के दो लाख बनाते रहे और बढी धनराशि का सूक्ष्मांश दया, अहिंसा आदि के नाम पर दान करके धर्मात्मा बनने के अभ्यासी बनने लगे। आज स्थिति ऐसी है कि वे परिग्रह के पुंज बनकर रह गये और महावीर 'जिन' का धर्म—अपरिग्रह उनसे दूर जा पड़ा। दूसरे शब्दो में ऐसे समझिए कि परिग्रही धर्मभीरु लोग महावीर के अपरिग्रही वीर-धर्म के ठेकेदार बन गए। इससे सबसे बड़ी हानि यह भी हुई कि अपरिग्रह जैसा मूल धर्म लुप्त जैसा हो गया। काश, लोगो ने ऐसा न कर अपरिग्रह को प्रमुखता दी होती तो लोगो मे सयम भी होता और वे सचय के विविध आयामो—टैक्स चोरी, ब्लैक मार्केटिंग आदि से भी बचे रहते। जैन धर्म का प्रभाव भी होता और देश मे अधिक सुख-शान्ति भी होती। लोगो मे सचय-भावना न होती और सब सुखी होते।

अपरिग्रह-धर्म को भुलाने से आज स्थिति ऐसी बन गई है कि धर्म की वह बागडोर जो कभी साधु-सन्तों और विद्वानों के हाथो मे थी, वह धन के हाथो जा पड़ी है और जिसका फल धर्म-ह्रास के रूप मे सामने है। यदि हमें

महावीर के सच्चे अनुयायी और सच्चे जैनी बनना है तो हमे 'अपरिग्रहवाद' पर बल देना पड़ेगा और अपरिग्रही साधु-सन्तों के चरणों मे जाना पड़ेगा—अपने को उनके भांति ढालना होगा—उन्हें अपने हाथों का खिलौना बनाने से भी बाज आना होगा। जो लोग आज सच्चे साधु की पहिचान करने पर जोर दे रहे हैं—उन्हें भी पहिले स्वय को पहिचानना होगा कि—सच्चा श्रावक कौन ? परिग्रह बढ़-वारी का धनी या परिमाण मे रहने वाला ?

'अपरिग्रह-वाद' को गौण करने की हानिरूप में हम पिछले दिनों, सोनगढ़ी कान जी भाई, जो परिग्रही थे, उनको तीर्थंकर प्रचारित करने की लीला देख ही चुके हैं। और आगे शायद चम्पावेन को भी किसी रूप मे देखें। हमारा तो निवेदन हैं कि यदि 'जैन' को जीवित रखना है तो सोनगढ़ ही क्यो ? कान जी जैसी स्थापित सभी अन्य शाखाओ से भी हम सतर्क रहें। और कान जी पन्थ के सभी अनुवादों, आयामो व विचारो को अपनी कसोटी पर कसें। महावीर के अपरिग्रहवादी धर्म को सुरक्षित बनाने में यह उपाय भी परम सहायक सिद्ध हो सकेगा, ऐसा हमारा अनुमान है।

आगम मे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है और श्रावक से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो श्रावकाचार मे अभ्यस्त होगा वह सहज रीति मे इस मार्ग पर बढ़ने मे भी समर्थ हो सकेगा और मुनि भी सहज बन सकेगा। श्रावक शब्द के श्रा, व, क, तीनो वर्ण हमे इंगित करते हैं कि हम श्र—श्रद्धावान्, व—विवेकवान् और क—क्रियावान् अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से पूर्ण हों। अब जरा सोचिए, जो सम्यग्दर्शन सम्पन्न—तत्त्वों का श्रद्धालु होगा, जिसे भली भाति तत्त्व स्वरूप का ज्ञान होगा, जो सम्यक् प्रकार सच्चारित्र पालन के प्रति जागृत होगा वह परिग्रह की बढ़वारी करेगा या उसका परिमाण करेगा ? हमारी समझ से तो परिग्रह-सचय करना मूढ़ता ही है। जो लोग ऐसा सोचते हो कि संग्रह से त्याग का मार्ग सरल होता है—जितना अधिक होगा उतना ही अधिक दान-कर्म किया जा सकता है। ऐसे लोगो से भी हमारी प्रार्थना है कि—कीचड़ में सानकर पैर धोने से तो यह ही उत्तम है कि कीचड़ में पैर साने ही न जायें। हमारी दृष्टि से तो जिन पर पराया कुछ नहीं होता वे वीतराग सर्वज्ञ देव ही सबसे बड़े दानी हैं। भला, ज्ञान दान से बड़ा दान क्या होगा और ज्ञान-संचय से बड़ा सचय क्या होगा ? इन सब प्रसंगों से यही सिद्ध होता है कि श्रावक परिग्रह का परिमाण करे और साधु पूर्णत्याग करे। यह तो हम पहिले ही लिख चुके हैं कि अपरिग्रह से अहिंसादि सभी धर्म स्वय फलित हो जाते हैं। तीर्थंकर भी दीक्षा के समय पहिले सब परिग्रह छोड़ते हैं। तब बाद में अन्य व्रत धारण और पचमुष्टि लोच आदि करते हैं। पहिले वे पर-निवृत्ति के भाव से ओत-प्रोत होते है तब उनका पर से लगाव छूटता है और तभी बाद मे उनमें अहिंसादि महाव्रतों का सचार होता है।

आग्रही लोगों का मत हो, कि जैन दर्शन अनेकान्तात्मक है। फलतः आचार्यों ने जब जिसको आवश्यक समझा मुख्य कर लिया और अन्य को गौण कर लिया। अहिंसादि पाँचों व्रतों को भी उसी पद्धति से प्रधानता और गौणता देनी चाहिए। स्व प. श्री जुगलकिशोरजी 'मुख्तार' ने जैनहितैषी (अगस्त १६१६) मे एक लेख लिखा था **'जैन तीर्थंकरों का शासन भेद'** और इसके बाद वि० स० १६८५ मे एक पुस्तक प्रकाशित की थी—"जैनाचार्यों का शासन भेद।" इनमे उन्होने अनेक प्रसंगों द्वारा प्रसिद्ध किया था कि धर्मोपदेश के माध्यमो और क्रमो मे समय-समय पर परि-वर्तन होते रहे हैं। जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे छेदोपस्थापना और बीच के २२ तीर्थंकरो के समय मे सामायिक चारित्र का प्राधान्य रहा। ऐसे ही अष्टमूल गुण आदि की नामावलि मे भी भिन्नता रही आदि। उक्त आधार को लेकर कुछ लोग अहिंसादि व्रतो मे भी प्रधानत्व और गौणत्व मे बदलाव की कल्पना करते हो और कहते हों कि समयानुसार कभी अहिंसा को, कभी सत्य या अपरिग्रह आदि को प्रधानता मिलती रही है, यतः उनकी दृष्टि मे सभी परस्पर सापेक्ष है, इनमे कोई निश्चित एक ही प्रधान नही है आदि। ऐसे विचारकों को मूल कारण प्रमाद तथा जैन और जैनत्व के अर्थ और भावों की गहराई को छूना चाहिए और यह भी देखना चाहिए

(शेष पृ० ३२ पर)

अपरिग्रह और उत्कृष्ट ध्यान

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

अपरिग्रहत्व से तात्पर्य है—मात्र "स्व" और ऐसे 'स्व' से जिसमें पर —परिग्रह का विकल्प ही न हो। अरहत—तीर्थङ्कर अपरिग्रही—पूर्ण दिगम्बर हैं 'स्व' में विराजमान और 'स्व' रूप मे स्थित भी। ज्ञान रूप आत्मा के सिवाय उनका स्व तत्व अन्य कुछ नहीं—वे ज्ञाता दृष्टा कहलाते हैं सो भी परकीय दृष्टि से ही। क्योंकि उनमें पर की कल्पना को अवकाश ही नहीं होता। जो पदार्थ उनके ज्ञान में प्रतिविम्बित होते हैं वे भी अपनी, पदार्थ की सत्ता मात्र से ही प्रतिविम्बित होते हैं—केवली के ज्ञान से उन पदार्थो की सत्ता का तादात्म्य नही—मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव है और वह भी व्यवहारी है। क्योंकि स्व-वस्तु किसी विकल्प या कथन की चीज नहीं, मात्र अनुभव की चीज है—सर्वथा अनुभव की। आश्चर्य है कि उक्त वस्तु-स्थिति में भी हम स्वत्व—दिगम्बरत्व—अपरिग्रहत्व के अर्थ से अजान हैं और दिगम्बरत्व या अपरिग्रहत्व को मात्र बाह्य-शरीरादि के आधार पर पहिचानने में लगे हुए हैं —मात्र निर्वस्त्र को दिगम्बर मान रहे हैं और उसे अपरिग्रही कह रहे हैं। खैर, कोई हर्ज नहीं; हम निर्वस्त्र को अपरिग्रही या दिगम्बर मानते रहें पर, वस्त्र का भाव अवश्य हृदयंगम करें : वस्त्र (वेष्टन) आवरण का द्योतक है जो असलियत को आच्छादित करता है—उसे प्रकट नहीं होने देता। उक्त भाव में स्व-रूप से भिन्न सभी दशाएं वस्त्र से आच्छादित जैसी हैं—सवस्त्र रूप ही है। इसी आच्छादन करने वाले सत्त्व को जेन-दर्शन में परिग्रह नाम से सम्बोधित किया गया है और इससे मुक्त रहने का पाठ दिया गया है। इस दर्शन में अपरिग्रही को पूज्य माना है क्योंकि वह ही निर्दोष है और वह ही स्व-स्वभावी सर्वज्ञ दशा में स्थित होने में समर्थ है। कहा भी है—'यस्तु न निर्दोष: स न सर्वज्ञ:। आवरण रागादयोदोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।'—जो निर्दोष नहीं है वह सर्वज्ञ नहीं है और रागादि अन्तरग व घनादि बहिरंग आवरणों—परिग्रहों से रहित होना ही निर्दोषता है। और जैनागम में शुद्धात्मा को ही निर्दोष कहा है—'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधि वाक्।' इसी निर्दोषता को लक्ष्य कर १८ दोषों को भी स्थूल रूप मे दर्शाया गया है—

'छुहतण्हभीररोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणु व्वेगो॥
—नियमसार ६।

जम्बूदीवपण्णत्ति और द्रव्य संग्रह टीका आदि मे भी इन दोषों का खुलासा है और ये सभी दोष स्व-स्वभाव न होने से पर—परिग्रह हैं—जिनसे आत्मा की अनन्त शक्ति आच्छादित होती है।

हम यहां जैन मान्य उन अपरिग्रह की बात कर रहे हैं जिसमें जैनत्व व्याप्त होकर निवास करता है और जिससे जैनत्व जीवित रहता है। परिग्रह की बढ़वारी कर जैनी बने रहने का प्रयत्न करना मुर्दे मे हवा देकर उसे जीवित मानने जैसा है। मृत-शरीर वायु से फूल सकता है, हिल भी सकता है। पर वह हिलना उसका जीवित होना नहीं होता—मात्र पौद्गलिक क्रिया होती है! ऐसे ही परिग्रह की बढ़वारी के प्रति जागृत जीव की बाह्य—पर क्रियाएँ भी जैनत्व की साधिका नहीं। क्योकि सारा का सारा जैनत्व परिग्रह की हीनता में समाहित है, फिर चाहे वह परिग्रहहीनता अहिंसा में आती हो, सत्य या अचौर्य आदि में आती हो। यदि अहिंसादि के मूल में अपरिग्रहत्व की भावना नहीं तो सब व्यर्थ है। और यहाँ अपरिग्रहत्व से तात्पर्य राग-द्वेषादि कषायों के कृश

करने से और बाह्य-संग्रह की मर्यादा और त्याग आदि से है। स्मरण रखना चाहिए कि सब व्रत-क्रियाएँ आदि भी तभी सार्थक हैं जब वे अपरिग्रह की भावना और अपरिग्रही-क्रियाओं से अपरिग्रह की पुष्टि के लिए हों।

हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि की क्रियाओं को (वह भी दिखावा रूप में) जैनत्व का रूप देने मे आसक्त रहे है और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए हैं। आज देश का जन-जन दुखी है वह भी परिग्रह की ज्यादती या लौकिक अनिवार्य पूर्तियो के अभाव मे दुखी हैं। हिंसादि सभी प्रवृत्तिया भी परिग्रह से तथा परिग्रह की बढ़वारी के लिए ही की जा रही हैं। आश्चर्य है कि सरकार ने भी परिग्रह की बढ़वारी को किन्ही अपराधो की परिधियों में नही बांधा। भारतीय दंडसहिता मे हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील के लिए जैसे दंड निर्धारित है, वैसे परिग्रह की बढ़वारी की रोक के लिए शायद ही कोई धारा हो। यदि सरकार ने जैन मूल-सस्कृति अपरिग्रहत्व से नाता जोड़ा होता—ऐसी कोई धारा निर्धारित की होती जो परिग्रह-परिमाण पर बल देती होती—अति-परिग्रहियो के लिए दण्ड विधान करती होती तो देश को त्रास से काफी हद तक छुटकारा मिला होता। तब न हर कोई हर किसी के भाग पर कब्जा करता होता और न ही टैक्सो की चोरी आदि जैसी बाढ़ें ही आई होती। व्यक्ति की सचय सीमा निश्चित होती और परिवार भी तदनुसार निर्धारित-परिमाण मे सग्रह कर पाते। इससे एक घर सम्पदा से अनाप-शनाप भरा और दूसरा सम्पदा से सर्वथा खाली न होता। जैसा कि वर्तमान मे चल रहा है और जो जनसाधारण को परेशानी का कारण बन रहा है। अस्तु।

यहाँ हम यह कहना भी उचित समझते हैं कि जिस ध्यान को तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय के २७वें सूत्र द्वारा दर्शाया गया है वह ध्यान भी अपरिग्रह मूलक और संवर-निर्जरा का साधक ही है। दूसरे रूप में यह भी कह सकते हैं कि—अपरिग्रहत्व और वह ध्यान समकाल भावी और एक है। वैसा ध्यान तभी होगा जब अपरिग्रहत्व होगा—बिना अपरिग्रहत्व के ध्यान कैसा? प्रसंग गत ध्यान के लक्षण में 'अपने मे रह जाना' ध्यान है और वही पूर्ण अपरिग्रहत्व है—जैसा कि ध्यान में होता है या होना चाहिये। क्योंकि ध्यान और अपरिग्रहत्व दोनो में अन्यत्वपने का अभाव होने से संवर-निर्जरा है। जबकि अन्य चिंताओं से हटकर मन का एक ओर लक्ष्य होने में भी चिंतन रूप क्रिया विद्यमान होने से आस्रव है–'कायवाग्मनः कर्मयोगः' 'स आस्रवः।' भले ही मन एकाग्र हो जाय—वह चिन्तन क्रिया तो करेगा ही। और जहां चिंतन रूप क्रिया होगी वहां आस्रव होगा ही। मन की क्रिया (चिन्तन) का नाम ही तो चिंता है। यदि चिंता—चिंतन क्रिया है तो योग है और योग को आस्रव कहा है, जो निर्जरा-प्रसग-गत ध्यान के लक्षण से मेल नही खाता। प्रसग मे तो उसी ध्यान से तात्पर्य है जो सवर-निर्जरा में हेतु हो। हम पुनः स्मरण करा दें कि मन का कार्य चिंतन है और चिंतन कर्म होने से आस्रव है। इस विषय मे किसी समझौते को खोज कर अन्य निर्णय सर्वथा अशक्य है।

सभी जानते हैं कि पूज्य उमास्वामी जी ने तत्वार्थ-सूत्र के छठवें अध्याय से आठवें अध्याय तक आस्रव-बंध का और नवम अध्याय मे संवर-निर्जरा का वर्णन किया है। इनमे पहिले उन्होंने मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव और फिर उसके निरोध को संवर कहा है। और इसी प्रसंग में नवम अध्याय मे ही तप को संवर और निर्जरा दोनो का कारण कहा है। और ध्यान की गणना तपों में कराई है। इसका भाव यही है कि प्रसंग में ध्यान वही (निरोध) है जो सवर-निर्जरा में कारण हो। ऐसे में ध्यान के शुभ-अशुभ या आर्त-रौद्र जैसे भेदों को इसमें स्थान ही कहां है जो उन्हें इस ध्यान में शामिल किया जा सके या प्रसंगगत ध्यान (चिंतानिरोध) को शुभ-अशुभ के आस्रव में कारण माना जा सके। वे दोनों और निचली दशा के मनोगत भाव—आर्त-रौद्र तो आस्रव ही हैं।

इसके सिवाय ध्यान के फल का जो वर्णन है और जो स्वामी का वर्णन है उससे भी स्पष्ट पता चलता है कि प्रसंग मे ध्यान संवर-निर्जरा का ही कारण है और वह मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। इसीलिए धवला में ध्यान के दो ही भेद कहे हैं—धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान। मोह की सर्वोपशमना करने से धर्म ध्यान को और शेष घाति-अघाति का क्षय करने से शुक्ल ध्यान को ध्यान की श्रेणी में

रखा गया। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि—दोनों ही ध्यानों मे 'आप में रह जाना' ही सर्वथा इष्ट है--कायवांग्मन की क्रिया करने से तात्पर्य नहीं। 'अट्ठावीसभेयभिण्णमोहणीयस्ससव्वुवसमा-वट्ठाणफलं पुधत्तविदक्क वीचार सुक्कज्झाणं।' मोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झाणफलं। 'तिण्णंघादिकम्माणं णिम्मूल विणासफलमेयत्तविदक्क अवाचीरज्झाणं'—धव. १३,५,४,२६ पृ. ८०-८१।

'अघाइ कम्म च उक्कविणासं (चउत्थ सुक्कज्झाणफलं) वही पृ० ८८। ण च णवपयत्थविसयरुइ-पच्चय सद्धाहि विणा-ज्झाण सभवदि।' वही पृ० ६५।

अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान का फल है।

मोह की उपशमना करना धर्म ध्यान का फल है। तीन घातिया कर्मों का विनाश करना एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान का फल है।

चार अघातिया कर्मों का विनाश चतुर्थ शुक्ल ध्यान का फल है। नव-पदार्थों की रुचि (श्रद्धा) के बिना ध्यान नही हो सकता अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही ध्यान का अधिकारी है।

सूत्र मे ध्यान के स्वामी के निर्देश से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग में आचार्य को ध्यान का वही लक्षण इष्ट था जिसके द्वारा संवर-निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता हो: यदि आचार्य को उक्त प्रसंग में आस्रवरूप मन की क्रिया (एकाग्रत्व रूप ही सही) अर्थ अभीष्ट होता तो वे सूत्र में 'उत्तम संहननस्य' पद को भी स्थान न देते। क्योंकि चितवन रूपी ध्यान तो साधारण सभी संहनन वालों और मिथ्यादृष्टियो तक को भी सदा काल रहता है।

जब हम ध्यान के लक्षण-सूत्र पर विचार करते हैं तो सूत्र में 'एकाग्र चिंता निरोध' ऐसा पद भी मिलता है। इसमें 'एकाग्र चिंता' से विदित होता है कि एकाग्र—एक को मुख्य लक्ष्य कर उसका चितवन करना ध्यान है। जरा सोचिए, जब एक वस्तु मुख्य कर ली तब वहां अन्य वस्तु के प्रवेश को अवकाश ही कहां रहा? यदि अन्य को अवकाश (स्थान) है तो एकाग्रपना कैसे? एकाग्र होने का अर्थ ही यह है कि जिसमें अन्य का विकल्प हट गया हो। और जब अन्य स्वाभाविक हट गया तब 'निरोध' शब्द ही व्यर्थ पड़ जाता है। ऐसे में यदि आचार्य ऐसा कहते कि 'एकाग्र चिंता ध्यानम्' तब भी काम चल सकता था। इससे मन की क्रिया (एकाग्र प्रवृति) को बल भी मिल सकता था। और चारों धर्म ध्यान भी ध्यान की परिभाषा में आ जाते। फिर यदि आचार्य को कहना ही था तो वे 'निरोध' के स्थान पर 'रोध शब्द से भी काम चला सकते थे। क्योंकि सूत्र ग्रंथ में वैयाकरण लोग आधी मात्रा के कम होने पर भी पुत्रोत्पत्ति जैसी खुशी मनाते हैं—'अर्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'। ऐसा मालुम होता है कि यहां संवर-निर्जरा सम्बन्धी ध्यान के प्रसंग मे आचार्य श्री को 'एक का चितवन और अन्य चितवन का रोध' ऐसा अर्थ इष्ट नही था, इसीलिए उन्होने रोधके स्थान पर 'निरोध' शब्द का प्रयोग किया और निरोध का अर्थ है— निःशेषेण-पूर्णरूपेण रोध। सभी प्रकार से सभी रीति की क्रियाओं का रोध।

'निरोध' को तुच्छाभाव मान उसके निराकरणार्थ किसी चिंतन को पुष्ट करने मे लगे लोगों को राजवार्तिककार ने स्पष्ट रूप में संकेत दिया है कि निरोध तुच्छाभाव नहीं अपितु भावान्तर रूप है। 'अभावो निरोध इति चेत्; न;····· विवक्षार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति।'—उत्कृष्ट ध्यान की अवस्था मे आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता (मन की क्रिया) का निरोध किया जाता है और वहां आत्मा का लक्ष्य आत्मा ही होता है—अन्य नहीं। यह भी ध्यान रहे कि इस उत्कृष्ट ध्यान के प्रसग मे 'अग्र' शब्द भी आत्मावाची है। आचार्य यह भी कहते हैं कि ध्यान स्व-वृत्ति (आत्म-वृत्ति) होता है—इसमें बाह्य-चिंताओं से निवृत्ति होती है—अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्। ततः स्व-वृत्तित्वात् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।' —इससे यह भी फलित होता है कि जहां अग्रशब्द अर्थवाची है अर्थात् जहां द्रव्य-परमाणु या भाव-परमाणु या अन्य किसी अर्थ में चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने को 'ध्यान' नाम से कहा गया है; वहां 'ध्यान' शब्द का लक्ष्य शुक्ल ध्यान के दो पायों तक सीमित है।

एक बात और —ध्यान एक तप है और तप शब्द से

आत्म-लक्ष्य के सिवाय अन्य का परिहार इष्ट है—इसी भाव में इच्छा निरोध को तप नाम दिया गया है—

'तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छा निरोहो।'—

ध० १३, ५, ४, २६' ५४

'समस्तभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं, विजयनं तप।'

प्रव० सा० ता० वृ० ७६।१००।१२

उक्त इच्छानिरोध में स्व और पर के भेद का संकेत भी नहीं है जिससे कि स्व की इच्छा को भी ग्राह्य माना जा सके। यहां तो ऐसा ही मानना पड़ेगा कि ध्यान में सभी प्रकार की इच्छाओं (मन की क्रियाओं) का अभाव ही आचार्य को इष्ट है और वे आत्मा मे आत्मा के होने को ही उत्कृष्ट ध्यान मानते हैं जो अपरिग्रहरूप है।

किन्हीं मनीषियों ने हमे 'एक पदार्थ को मुख्य बनाकर उसके चिंतन में (मन का) रोध करना—मन को ठहरा लेना ध्यान है' ऐसा अर्थ भी बतलाया है यानी उनके मत में निरोध का अर्थ मन का स्थापित करना है। ऐसे मनीषियों को धवला मे आये 'निरोध' शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। और यह भी सोचना चाहिए कि मन को लगाने की क्रिया से आस्रव होगा या संवर-निर्जरा? एक स्थान पर धवला मे निरोध के अर्थ को इस भांति स्पष्ट किया गया है—'को जोग णिरोहो? जोग विणासो।' उवयारेण जोगो चिंता, तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि।' —वही पृ० ८५-८६

योग का निरोध क्या है? योग का विनाश। उपचार से चिंता का नाम योग है। उस चिंता का एकाग्ररूप से जिसमे विनाश हो जाता है वह ध्यान है। किसी (एक की भी) चिंता में लगे रहना, प्रसंग गत ध्यान नही और ना ही उस चिंता में लगे रहने में, उससे संवर और निर्जरा ही है। यदि संवर निर्जरा है भी तो वह अन्य प्रवृत्ति से निवृत्ति मात्र के कारण और उसी अनुपात में है—ध्यान (क्रिया) से नहीं; वहां ध्यान नाम तो मात्र उपचार है। ऊपर के पूरे विवेचन से स्पष्ट होता है कि धवला निर्दिष्ट दो ध्यानों के प्रकाश में ध्यान वही है जो संवर-निर्जरा का हेतु हो? सि० च० नेमीचंद्राचार्य जी ने जो 'दुविहं पि मोक्खहेउं' रूप में दो ध्यानों को प्ररूपित किया है उनमें 'पणतीस सोलछप्पणचदुदुगमेगं' तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ जैसे परावलम्बी ध्यानों को मोक्षमार्ग में परम्परित कारण होने से व्यवहार-ध्यानरूप और 'बहिरब्भंतर-किरियारोहो' और रूपातीत जैसे स्वावलम्बी ध्यान को निश्चय ध्यान रूप कहा है। यदि हम विचारें तो धवलाकार के शब्दों से यह बात सर्वथा मेल खाती जैसी दिखती है—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं झाण, 'जोगणिरोहो' जिणाणं तु॥' (उद्धृत)

एक वस्तु मे अतर्मुहूर्त काल तक चिंता का अवस्थान-रूप ध्यान छद्मस्थों का ध्यान है और योग निरोध रूप निश्चय ध्यान अर्हन्त भगवान का ध्यान है आदि।

ऊपर के प्रसग से यह भी स्पष्ट है कि जिन्हें आर्त और रौद्र ध्यान के नामों से संबोधित किया जा रहा है वे सम्यग्दृष्टी के लिए न तो व्यवहार ध्यान है और ना ही वे निश्चय की परिभाषामे आते हैं। अपितु यह कहा जाय कि वे सर्वथा अव्यवहार्य और जीव की दशा की अनिश्चिति में कारण हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा यतः वे मिथ्याभाव हैं।

साधारणतः 'ध्यान' शब्द ऐसा है जो जन साधारण में चिंता या चिंतन के अर्थ में प्रसिद्ध है—'ध्यै चिंतायाम्'। इसलिए लोग इस शब्द को विचार करने जैसे अर्थ में लगा बैठते हैं। लोगों को समझना चाहिए कि यदि सर्वथा विचार—चिन्तन ही ध्यान होता तो आचार्य शुक्ल ध्यान की ऊपरी श्रेणियों में विचार का बहिष्कार न करते जैसा कि उन्होंने किया है। वे कहते हैं—'अवीचारं द्वितीयं।' दूसरा एकत्ववितर्क नामा शुक्ल ध्यान वीचार रहित है (तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान भी वीचार रहित है)। विज्ञपुरुष इस बात को भली भांति जानते हैं कि—'वीचारोऽर्थ व्यंजनयो संक्रान्तिः।' अर्थ और व्यंजन में विचारों की पलटती दशा संक्रान्ति कहलाती है और वीचार व विचार दोनों शब्द एकार्थक है यानी जब यह जीव अर्थ का विचार करते-करते कभी पर्याय पर चला जाता है और कभी अर्थ पर चला जाता है तब उस पलटने की दशा को सक्रान्ति कहा जाता है। और वह ऊपरी अवस्थाओं में नही है। अब सोचिए! कि जब मन का अर्थ चिन्तन है और चिंतन मे पलटना अवश्यंभावी है।

यदि पलटना नहीं तो चिंतन कैसा ? वह तो कूटस्थपना ही है और मन कूटस्थ है तो वह मन कैसा ? फिर यदि मन संक्रान्ति नही करता तो वहां कौन सी क्रिया करता है ? और जो क्रिया करता है वह क्रिया 'आस्रव' क्यों नही ? जब कि आचार्य ने मन, वचन या काय की क्रिया को आस्रव कहा है ?

उक्त सभी परिस्थितियों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि— उक्त ध्यान में मन लगाना नही पड़ता, अपितु मन को हटाना पड़ता है और इस मन को हटाना ही—पर से निवृत्ति करना ही अपरिग्रह है और जैन-दर्शन को यही निवृत्ति इष्ट है। फलतः—इस मायने में उत्कृष्ट ध्यान और अपरिग्रह दोनों एक ही श्रेणी में ठहरते हैं और ऐसा किए बिना 'तपसा निर्जरा च' सूत्र की सार्थकता भी नहीं बनती और जिन-दशा तथा मुक्ति भी नही बनती। विचार दीजिए। इसमें हमें कोई आग्रह नहीं।

□□

(पृ० २५ का शेषांश)

कि जैन के विधाता और गुरुओं की क्या विशेषता रही है ? प्रथमतः वे प्रमाद-परिहार मे ही सन्नद्ध रहे हैं। जहां तक देव का प्रसंग है वे सदा ही वीतरागी कहलाए हैं और जैन के गुरू भी निर्ग्रंथ रूप में प्रसिद्ध रहे हैं और उनका चरम-लक्ष्य भी वीतरागता की प्राप्ति ही रहा हैं। वे कभी भी किसी आचार्य के द्वारा - समय के प्रभाव में भी कभी अहिंसक या सत्यवादी (हरिश्चन्द्र) जैसे विशेषणो से प्रसिद्ध नही किए गए और ना ही उनके निश्चित लक्षणों में कभी कोई अन्तर ही आया। तथाहि—देव का लक्षण—'अष्टादशमहादोषविमुक्तं मुक्तिवल्लभं।

ज्ञानात्मपरमज्योतिर्देवं वन्दे जिनेश्वरम् ॥'

गुरु का लक्षण—बाह्याभ्यंतरभेदेन निर्ग्रन्थं ग्रन्थ सयुतं।

कर्मणालघुमप्युच्चैर्गुरु हि गुरुवो विदुः ॥'

जो अठारह प्रकार के दोषों—(जो परिग्रह की ही श्रेणी में आते हैं) से रहित, एकाकार शुद्ध ज्ञान-ज्योति से युक्त हों वे देव और जो बाह्याभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित-निर्ग्रन्थ हो वे गुरु होते हैं। ये देव और गुरु सर्व-शुद्धि अर्थात् पर से मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं।

शास्त्रों में भी पढ़ा जाता है कि मुनिगण निकट आए हुए श्रावकों को धर्मोपदेश देते समय प्रथम अपरिग्रह रूप मुनिमार्ग और तदनन्तर श्रावकाचार का उपदेश देते हैं। इसमें उनका भाव ऐसा ही रहता है कि श्रोता पहिले वास्तविकता को समझें कि सर्वपापों की जड परिग्रह है। यदि श्रोता के भाव हुए तो वह इसी जड़ पर प्रथम प्रहार करेगा और परिग्रह त्याग के साथ उसके शेष सभी पापों के धुल जाने का मार्ग खुल सकेगा। बिना परिग्रह मे संकोच किए, कोई भी व्रत फलित नही होगा। जरा सोचिए !

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २, अन्सारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता – भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

जरा सोचिए !

१. प्रामाणिकता कहां है ?

वे बोले—मुझे वे दिन याद आते हैं जब मैं एक बड़े दफ्तर में कार्यरत था। अच्छा पैसा मिलता था। रहने को बंगला, कार, नौकर-चाकर सम्बन्धी सभी सुविधाएं प्राप्त थीं। सैकड़ों लोग सुबह से शाम और रात तक भी मेरे मुख की ओर देखते थे कि कब मेरे मुंह से क्या निकले और वे तदनुरूप कार्य करें। कोई ऐसा पल न जाता था जब कोई न कोई मेरी ताबेदारी में खड़ा न रहता हो। पर, क्या कहूं ? आज स्थिति ऐसी है कि बेकार बैठा हूं। रहने का ठिकाना नहीं। नौकर-चाकर की क्या कहूं ? मैं खुद ही मेरा नौकर हूं। मैं कहीं नौकरी करना चाहता हूं—कोई नौकरी नही देता। कई टायम तो भूखों रह केवल पानी के दो घूंट पीकर खाली पेट ही सोता हूं।

मैंने पूछा—यह सब कैसे हो गया ? दफ्तर के कार्य का क्या हुआ ?

बोले—क्या कहूं ? बचपन से मेरा खेल-कूद में मन रहा। घर वालों के बारम्बार कहने पर भी मैं पढ़ने से जी चुराता रहा और जब बड़ा हुआ तब देखा कि मेरे साथी यूनिवर्सिटियों की डिग्री लेकर अच्छे-अच्छे पदों पर लगे चैन की बन्सी बजा रहे हैं। मुझे अपने पर बड़ा तरस आया। मैंने सोचा, यदि मेरे पास डिग्री होती तो मैं भी कहीं न कहीं कोई आफीसर बन गया होता। बस, इसी सोच मे काफी दिनों रहा कि एक दिन मेरे किसी जानकार ने मुझे कहा कि तू डिग्री ले ले। मैंने कहा—कहां से कैसे ले लू ? अब तो उम्र भी बड़ी हो गई है। उसने मुझे बताया कि पड़ोस के मुहल्ले मे एक संस्था गुप्त रूप में डिग्रियां देती है। तेरे कुछ पैसे जरूर लगेंगे, पर तेरा काम हो जायगा। बस, क्या था ? मरता क्या न करता—मैं उस संस्था में पहुंचा और जैसे-तैसे दो हजार रुपयों में सौदा बन गया। मैंने सोचा इतने रुपये तो दो मास की तनख्वाह है, बस वसूल हो जाएंगे। मैंने रुपयों का जुगाड़ करके एम० ए० की डिग्री ले ली और मुझे आफिस में काम मिल गया।

होनहार की बात है कि एक दिन मेरा आफिस के एक साथी से झगड़ा हो गया और उसने किसी तरह मेरी जाली डिग्री की बात कहीं न कहीं से जान ली और मेरी शिकायत कर दी। मैं जांच के लिए निलंबित कर दिया गया। मुकद्दमा चला और आठ वर्ष के कार्यकाल में जो कुछ जोड़ा था वह सब खर्च हो गया। पर, मैं निर्दोष न छूट सका। नौकरी भी गई और जुर्माना भी भरना पड़ा।

मैंने कहा—आपने जाली सार्टीफिकेट क्यों बनवाया ? क्या आप नहीं जानते कि वही सार्टीफिकेट काम देता है, जो किसी स्वीकृत और प्रामाणिक बोर्ड या विश्वविद्यालय से मिला हो—किसी ऐसे व्यक्ति, संस्था या समाज से मिला प्रमाण-पत्र जाली होता है जिसे उतनी योग्यता न हो और जो प्रमाण-पत्र देने के लिए अधिकृत न हो। [illegible] दिया सार्टीफिकेट तो बोगस और झूंठा ही होगा।

वे बोले—वक्त की बात है, होनी ही ऐसी थी। वरना कई लोग तो आज भी अयोग्य और अनधिकृत लोगों से उपाधियां, अभिनन्दनादि ले रहे हैं—वे सम्मानित भी हो रहे हैं और उनकी तूती भी बोल रही है।

मैंने कहा—आपकी दृष्टि से आपका कहना तो ठीक है पर, इसकी क्या गारण्टी है कि उनकी प्रामाणिकता भी आपकी तरह किसी न किसी दिन समाप्त न होगी ? फिर, ऐसे उपक्रमों की प्रामाणिकता है ही कहां ? सभी लोग तो ऐसे उपक्रमों के वैसे समर्थक नहीं होते जैसे वे विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त उपाधियों के पोषक होते हैं। आप निश्चय समझिए कि प्रामाणिक उपाधि सभी स्थानों पर, सभी की दृष्टि में प्रामाणिक ही रहेगी—एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो किसी विश्वविद्यालय द्वारा दी गई उपाधि को जाली बताने की हिम्मत कर सके। जबकि

भीड़ के द्वारा दी गई उपाधियों के विषय में सभी एकमत नहीं होते—कुछ न कुछ लोग उसे नकारने वाले अवश्य ही होते हैं।

उक्त कथन से हमारा तात्पर्य ऐसा नहीं कि हम अभिनन्दनों या उपाधियों का जनाजा निकाल रहे हों। अपितु ऐसा मानना चाहिए कि हम गुण-दोषों के आधार पर सही रूप में किसी सम्मान के पक्षपाती हैं—सम्मान होना ही चाहिए। पर, हम ऐसे सम्मान के पक्षपाती हैं जो किसी ऐसे अधिकृत, तद्गुणधारक, पारखी और अभिनन्दित के द्वारा किया गया हो—जिनकी कोई अवहेलना न कर सके। उदाहरण के लिए जैसे मैं 'विद्यावाचस्पति' नहीं—शास्त्रों में मूढ़ हूं और किसी को 'सकल शास्त्र पारंगत' जैसी उपाधि से विभूषित करने का दुःसाहस करूं (यद्यपि ऐसा करूंगा नहीं) तो आप जैसे समझदार लोग मुझे मूर्ख न कह 'महामूर्ख' ही कहेंगे और उस उपाधि को भी बोगस, जाली, झूठी और न जाने किन-किन सम्बोधनों से सम्बोधित करेंगे? और यह सब इसलिए कि मैं उस विषय मे अकिंचन हूं, मुझमें तदर्थ योग्यता, परख नही है। फलतः—

हमारी दृष्टि में वे ही उपाधियां और अभिनन्दन युक्तियुक्त और प्रामाणिक हैं जो तद्गुण धारक किसी अधिकृत, अभिनन्दित और पारखी व्यक्ति या समुदाय की ओर से दिए गए हों और जिनका दाता (व्यक्ति या समाज) किसी पूर्वाभिनन्दित व्यक्ति या समाज द्वारा कभी अभिनंदित हो चुका हो। उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान में बंटने वाली उपाधियो या अभिनन्दनों का स्थान या महत्त्व कब, कैसा और कितना है? है भी या नही? जरा सोचिए! कही वर्तमान के पदवी आदान-प्रदान जैसे कोई उपक्रम, गुटबाजी, अहं-वासना या पैसे से प्रेरित तो नहीं है? यदि हां, तो 'अहं' के पोषक ऐसे उपक्रमों पर ब्रेक लगाना चाहिए। फिर, आप जैसा सोचें सोचिए। हां, यह भी सोचिए कि पूर्वाचार्यों की उपाधियों और अभिनन्दनों की प्राप्ति में भी क्या हम चालू जैसी 'तुच्छ' परम्परा की कल्पना कर उनके स्तर की अवहेलना के पाप का बोझ अपने सिर लें?

२. प्रमाद : परिग्रह

'मूल जैन-संस्कृति अपरिग्रह है और हिंसादि सभी पाप परिग्रह-फलित हैं' यह एक ऐसा तथ्य है जिसे किसी प्रमाण या तर्क से झुठलाया नहीं जा सकता। हमें आश्चर्य है कि जब जैनाचार्य पापों की जड़ में प्रमत्त भाव (परिग्रह) की अनिवार्यता स्वीकार कर रहे हैं, तब कुछ लोग शास्त्र-सम्मत हमारी इस बात को आक्षेप की संज्ञा दे रहे है। ऐसे लोगों से हमारी प्रार्थना है कि वे जिनधर्म के तथ्य को हृदयंगम करें—जिनवाणी का आदर करें। हमे कोई विरोध नहीं, हम धर्म सम्बन्धी 'अहिंसा परमोधर्मः' जैसे सभी नारों को सम्मान देते हैं। पर, हम देखते हैं कि इन नारों का वर्तमान में दुरुपयोग और दिखावा किया जाने लगा है, तब क्यो न इन नारों के मूल को खोजा जाय? जिससे दुरुपयोग की बढ़वारी रुके। हमारी समझ से यदि हमने उक्त नारो के मूल 'अपरिग्रह परमोधर्मः' को लक्ष्य मे रखा होता तो छलावे का प्रसग उपस्थित न हुआ होता। अस्तु :

वास्तव मे अपरिग्रह ही 'जिन' बनने का उपाय है और 'जिन' का धर्म भी अपरिग्रह है तथा अहिंसादि सभी धर्मों के मूल में अपरिग्रह की ही प्रधानता है। जहां परिग्रह है वहां पाप है और पापो को छोड़ने के लिए परिग्रह का छोडना अनिवार्य है। फिर चाहे वह परिग्रह अतरंग-परिग्रह हो या बहिरंग परिग्रह हो।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि आचार्यों ने पापों को पाप तभी माना है जब उनमें प्रमत्त (परिग्रह) भाव हो। जब वे कहते हैं—'प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपण हिंसा' तब वे 'असदभिधानमनृत', 'अदत्तादानमस्तेय' आदि सभी पापों में भी 'प्रमत्तयोगात्' लगा लेने का आदेश देते हैं। उनके मत में कोई भी प्रवृत्ति तब तक पाप नही है जब तक उसमें प्रमत्त भाव न हो।—'मरदु व जियदु व जीवो' आदि। यदि हम प्रमत्त की परिभाषा हृदयंगम करें तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि सभी पापो की जड़ में परिग्रह बैठा है। तथाहि—

"जो प्रमादयुक्त है, कषायसयुक्त परिणाम वाला है उसे प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों की क्रियाओं में सावधानता

न रखता हुआ स्वछंदता से प्रवृत्ति करने वाला जो मनुष्य है उसे प्रमत्त कहते हैं। अथवा जिसके मन में कषाय बढ़ गए हैं, जो प्राणघात आदि के कारणों में तत्पर हुआ है, परन्तु अहिंसा आदि में शठता प्रवृत्ति दिखाता है, कपट से अहिंसादि में यत्न करता है, परमार्थ रूप से अहिंसादि में प्रयत्न जिसका नहीं है उसे प्रमत्त कहते हैं। अथवा चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पाँच स्पर्शनादि इन्द्रिया और निद्रा तथा स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। इनसे जो युक्त है उसे प्रमत्त कहते हैं। ऐसे प्रमत्त पुरुष की जो मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति उसे प्रमत्तयोग कहते है। इस प्रकार के प्रमत्त योग से जो प्राणियों के इन्द्रियादि दश प्राणों का घात करना—वियोग करना उसे हिंसा कहते हैं। (इसी प्रकार असत्य आदि पापों में समझना चाहिए)।"

"(हिंसादि के एक सौ आठ, एक सौ आठ भेद)—संरंभ, समारंभ और आरम्भ इनसे मन, वचन, काय को गुणा करने पर नौ भेद होते हैं। फिर इन नौ भेदो से कृत-कारित और अनुमोदन को गुणा करने से सत्ताईस भेद होते हैं। तथा इन सत्ताईस भेदों से चार कषायों को गुणा करने से एक सौ आठ भेद (एक के) होते हैं।"

"**स्पष्टीकरण**—प्रमादयुक्त पुरुष का प्राणि हिंसा आदि में जो प्रयत्न करना उसे संरंभ कहते हैं। हिंसादि के साधनों को प्राप्त करने को समारम्भ कहते हैं और हिंसादि कार्य करने में प्रवृत्त होंने को आरम्भ कहते हैं। कृत—स्वयं हिंसादि करना, कारित—दूसरों से हिंसादि कराना, अनुमत—हिंसादि करने वालों को अनुमोदन देना। क्रोध, मान, माया, लोभों को कषाय कहते हैं। क्रोधकृतकाय-हिंसादि—सरभ, मानकृतकार्यहिंसादि सरभ, मायाकृतकाय-हिंसादि संरभ, लोभकृतकार्यहिंसादि सरभ। क्रोधकारित-कार्यहिंसादि समरम्भ, मानकारितकार्यहिंसादि संरभ, मायाकारितकार्यहिंसादि संरंभ, लोभकारितहिंसादि संरंभ। क्रोधानुमोदितकार्यहिंसादि संरंभ, मानानुमोदितकार्यहिंसादि संरंभ, मायानुमोदितकार्यहिंसादि सरंभ, लोभानुमोदितकाय हिंसादि संरंभ। ऐसे कार्यहिंसादि संरंभ के बारह-बारह भेद। ऐसे ही वचन द्वारा हिंसादिसंरंभ के बारह-बारह भेद। तथा मनो हिंसादि संरंभ के बारह-बारह भेद होने से एक-एक के छत्तीस-छत्तीस भेद संरंभ के भेद हुए। इसी प्रकार एक-एक के छत्तीस-छत्तीस भेद समारम्भ के हुए और एक-एक के ३६-३६ भेद आरम्भ के हुए। इस प्रकार सब मिलाकर १०८ भेद हिंसा के, १०८ भेद झूठ के, १०८ भेद चोरी के, १०८ भेद कुशील के और १०८ भेद परिग्रह के होते हैं।"—(उघृत)

—उक्त सभी भेद प्रमाद की मुख्यता में बनते हैं और सभी पाप भी प्रमाद (परिग्रह) के अस्तित्व में ही बनते हैं, यह वस्तुस्थिति है। आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि—

'साधौ व्रतानि तिष्ठन्ति राग-द्वेष विवर्जनात्।'—अब पाठक विचारें कि पापों के जनक राग-द्वेषादि भाव परिग्रह में परिगणित हैं या अन्य किसी में? जरा अंतरंग चौदह परिग्रहों की गणना कीजिए और देखिए—'तीन वेद—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद, हास्य, रति (राग) अरति (द्वेष) शोक, भय और जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय तथा मिथ्यात्व। क्या उक्त परिग्रहों के बिना कोई पाप संभव है या सभी पापों के मूल में उक्त परिग्रहों में से किसी की कारणता विद्यमान है? जरा सोचिए!

३. और एक यह भी—

चर्चा है श्रावकाचार वर्ष मनाने की। हम तो इसे काल लब्धि ही कहेंगे कि जो पुण्य कार्य सर्वथा विस्मृत हो चुका था वह सहसा स्मृति में आया। इसके माध्यम से जैनत्व को बल मिलेगा और भव्य जीवों का कल्याण भी होगा। धन्य है उन विचारकों, संचालकों और प्रचारकों को जिन्होने इस उपयोगी कार्य का बीड़ा उठाया। सफलता मिले इसी में सबका गौरव है। हमारी प्रार्थना है कि सभी जन इस धर्म-यज्ञ मे प्राण-पण से लग जायें। हम से जो हो सकेगा, बिना शक्ति छुपाए भर सक करेंगे।

हमें यह सोच लेना चाहिए कि यह एक ऐसा कठिन कार्य है जिसे पूरा करना लोहे के चने चबाने जैसा है। आज जब आचार-विचार का सर्वथा ही लोप है, तब हमें उसकी बुनियाद शुरू से ही रखनी होगी। और उसके लिए हमें आचारवान त्यागियों से मार्ग दर्शन लेना होगा—

उनकी सेवा करनी होगी। हमारे देखते २ हमें याद है कि किन्हीं दिनों सप्तम प्रतिमाधारी का जो सम्मान था, वह कदाचित् आज साधारणत: मुनि को भी दुर्लभता से प्राप्त है। पहिले लोग जहां किसी ब्रह्मचारी त्यागी के आगमन की खबर सुनते थे वे बासों उछल पड़ते थे, भक्तिभाव से उनकी अगवानी करते थे, श्रद्धावनत हो भक्तिभाव से उनके प्रवचन सुनते थे और उनकी वैयावृत्त करते थे और इसमें उनकी पूरी दृष्टि स्व-सुधार में केन्द्रित रहती थी। अब आज सारा का सारा वातावरण बदला हुआ है। लोग जो कुछ भी करते हैं उसमें पर-सुधार का लक्ष्य और प्रचार का दिखावा ही मुख्य होता है। गोया, धर्म आज केवल प्रचार और पर-सुधार का माध्यम बन गया। उसमें विचार और स्व-आचार नाम की कोई चीज ही नहीं रही। जबकि वास्तव में धर्म, प्रचार की चीज न हो, आचार की ही चीज है।

आज लोगों के लिए **'लोग क्या कहेंगे'** यह प्रश्न भी मुख्य आड़े आ गया है। वे सोचते हैं—यदि हम ऐसा करेंगे या न करेंगे तो लोग क्या कहेंगे? बस, वे लोगों को तुष्ट करने के ख्याल से, प्रचार को माध्यम बना मैदान में कूद पड़ते हैं और लोग समझ लेते हैं कि अमुक बहुत अच्छा काम कर रहा है। आखिर क्यों न समझें? आज तो प्रचार का जमाना है, सो हो ही रहा है। पर याद रहे—**'लोग क्या कहेंगे?'** यह प्रश्न लोगों के सामने पहिले भी था और वे इसे हल भी करते थे। अन्तर मात्र इतना है कि तब वे इसे हल करने में प्रचार को माध्यम न बना, स्व-आचार-विचार को माध्यम बनाते थे—अपने में सुधार लाते थे। जबकि आज प्रचार को माध्यम बनाया जा रहा है। स्मरण रहे कि प्रचार और आचार में बड़ा भेद है। प्रचार तो आज सरकार भी करती है—**'शराब जहर है मत पियो?'** पर, सरकार का वैसा आचार न होने से इस प्रचार का लोगों पर कुछ असर नहीं होता। सभी को मालूम है कि शराब की बिक्री सरकार के दिये हुए ठेकों की मार्फत सरकार द्वारा ही होती है और शराब बन्दी का प्रचार भी सरकार ही करती है। इससे मिलती-जुलती बात ही बीड़ी-सिगरेट आदि के निर्माता भी करते हैं। आदि।

यदि हमें श्रावकाचार वर्ष मनाने की वास्तविक ललक है तो हमें स्वयं को श्रावकाचार रूप में ढालना होगा। हमें अपने, अपने परिवार के, गली-मुहल्ले और नगर के बन्धुओं को पहले श्रावक बनाना होगा—उन्हें धर्म के आचार पालन के लिए तैयार करना होगा। हम बात करते हैं सम्प्रदाय, सारे देश और विश्व को सुधारने की, जबकि अपने सुधार की हमें सुध ही नहीं। हमने उन बहुत सी भीड़ों को भी कई बार देखा है जिनमें भाषणों से प्रभावित होकर समुदाय के समुदाय हाथ ऊँचे उठाकर शराब और मांस जैसे अन्य बहुत से हेय पदार्थों के सेवन न करने का दृढ़ संकेत देते रहे हैं और बाद में ललक उठने पर नियम-च्युत हो गए हैं। हमने ऐसे जैनों को भी देखा है जो किन्हीं महाराज को आहार देने के लिए आजन्म शूद्र जल त्याग का नियम लेकर बाजार में हलवाई की दुकान पर कचौड़ी आदि खाकर कहते रहे हैं कि—हमने तो शूद्र जल मात्र का त्याग किया है—अन्य चीजों का नहीं, आदि। गरज मतलब यह कि कुछ लोग दीर्घकालीन व्यसनी होने से और कुछ कानूनी दांव-पेंचों का सहारा लेकर भ्रष्ट होते रहे हैं। अत: नियम देने-लेने और उन पर दृढ़ रहने व रखने के लिए पहिले उनकी चित्त-भूमि को बारम्बार उसी भांति तैयार करते रहना पड़ेगा जैसे चतुर किसान बीज बोने से पहिले खेत को भली-भांति तैयार करता है। बाद में फसल की देख-भाल की भांति लोगों को पुन: पुन: सम्बोधन भी देना होगा। उनकी देखभाल भी करनी होगी। अब जरा सोचिए! हममें वैसे चतुर किसान कितने हैं और वैसी भूमि कब, किसने तैयार कर रखी है। कहीं ऐसा तो नहीं हो कि मेघ ऊसर जमीन में बरस रहा हो और हम किसान भी अनाड़ी हों - मात्र लोगों में 'कृषक' नाम कायम रखने के लिए ही हल चला रहे हों यानी—**'खुद मियां फजीहत दीगरां नसीहत।'**

—सम्पादक

वर्णी-वाणी के रत्न

१. किसी कार्य के करने का जो निश्चय करो उसे सहस्रों बाधाएँ आने पर भी न छोड़ो। यदि उस निश्चयसे आत्मघात होता हो और आत्मा साक्षीभूत होता है तब उसे छोड दो। परकी बात वहीं तक मानो जहाँ तक स्वार्थ में बाधा न आवे। यथार्थसे तात्पर्य निरीहवृत्ति से है। आत्माका स्वार्थ यही है कि परसे भिन्न है; एक परमाणुमात्र भी आत्मीय नहीं यही भावना दृढ होना। जब एक परमाणु भी अपना नही तब स्पर्शादि सुखोंके लिए परमेश्वर की उपासना करना विफल है। (३।५।४७)

२. मेरा निजी अनुभव है जो मनुष्य धीर नही वह मनुष्य किसी भी कार्यमे सफलीभूत नहीं हो सकता। मैं जन्मसे अधीर हूं अतः मेरा कोई भी कार्य आज तक सफल नहीं हुआ। पर्याय बीत गई पर पर्यायबुद्धि नहीं गई। पर्याय नश्वर है यह प्रति दिन पाठ पढ़ते हैं परन्तु इसमें कोई तत्व नही निकलता। तत्व तो जहां है वही ही है। (२।७।४८)

३. परको प्रसन्न करनेकी चेष्टा मत करो। जब यह अभ्रांत सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्यका उत्पादक नहीं तब तुम्हारे प्रयत्नसे तो अन्य प्रसन्न न होगा। अपनी ही परिणति से प्रसन्न होगा। तुम व्यर्थ खिन्न मत होओ कि हमने परिणमाया। अन्य द्रव्यका चतुष्टय अन्य से भिन्न है। (३१।७।४७)

४. कोई भी काम करो निर्भीकता से करो। (२०।८।४७)

५. संसारमें कर्तव्यनिष्ठ बनो, दूसरों की भलाई की चेष्टाके पहिले अपनी शक्तिका विकास करो। केवल गल्पवादसे भलाई नही हो सकती। कुछ कर्तव्यपथ पर आओ, यही ससार बन्धनसे छूटने का मार्ग है। जो मनुष्य कर्तव्यको जानते हैं वही शीघ्र ही अभीष्ट पद के पात्र होते हैं। (२०।८।४७)

६. बहुत जल्पवाद दम्भमे परिणत हो जाता है। जितना जल्पवाद करोगे उतना ही कार्य करने में त्रुटि करोगे। १०० बात कहनेकी अपेक्षा एक काम करना श्रेयस्कर है। उपदेश उतना दो जितना अमल में आ सके। पुण्य कार्यों का तिरस्कार मत करो। शुद्धोपयोग उत्तम वस्तु है परन्तु शुद्धोपयोगकी कथासे शुद्धोपयोग नही होता। (११।९।४७)

७. कोई भी काम करो उतावली मत करो। (१२।९।४७)

८. जो काम करो शान्तिसे करो। प्रथम तो कार्य करनेके पहिले अच्छे प्रकारसे निर्णय कर लो कि हम यह कार्य करने की शक्ति रखते हैं अथवा नही? यदि योग्यता न हो तो उस कार्यके करनेका साहस न करो तथा जब उस कार्यके करनेके सम्मुख होओ तब अन्य कार्यकी व्यग्रता मत रक्खो। उतावली मत करो, चित्तको प्रसन्न विशुद्धता ही प्रत्येक कार्यमें सहायक होती है। (१५।९।४७)

९. शान्तिसे काम करो, आकुलता दूर करने के लिए अशान्त होना पागलपनकी चेष्टा है। (१५।२।४८)

१०. स्वाध्यायमें उपयोग लगाना, किसीसे नही बोलना, यदि कोई गल्प करे तो उसे निषेध कर देना। केवल आगम की कथा करना, किसीका सकोच नहीं करना, कलिमल दोषको दूर करनेके लिए अपने अन्तःकरणसे विचारपूर्वक कार्य करो। परकी गुरुता लघुतासे हमको न लाभ है, न हानि है। (१७।५।४८)

११. सरल व्यवहार करो, आभ्यन्तर कषाय मत करो, किसीके परिणामको देख हर्ष विषाद मत करो। (२२।५।४८)

(शेष पृष्ठ २४ पर)

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० २ — अप्रैल-जून १९८५

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	जिनवाणी स्तुति	१
२.	मुच्छा परिग्गहो वुत्तो : डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	प० शिरोमणिदास कृत धर्मसार सतसई —श्री कुन्दनलाल जैन प्रिंसिपल	३
४.	भ० महावीर जन्म-स्थान विषयक विवाद —डा० ज्योति प्रसाद जैन	६
५.	पूर्व मध्यकालीन भारत में नैतिक धर्म का पतन —प्रदीप श्रीवास्तव	१२
६.	ग्राम पगारा की जैन प्रतिमाएँ —नरेशकुमार पाठक	१७
७.	शान्तिनाथ पुराण में प्रतिबिम्बित कथानक रूढ़ियां—कु० मृदुला	१८
८.	धर्म ध्यान का स्वरूप एवं भेद —पं० नरेन्द्र कुमार जैन, सोरया	२१
९.	कुबेरप्रिय सेठ की कथा	२३
१०.	जैन होने में बाधक : मूर्च्छा-भाव-परिग्रह —पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२५
११.	जरा सोचिए—सम्पादक	२९

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वर्णी-वाणी से

संसार में परिग्रह ही पांच पापों के उत्पन्न होने में निमित्त होता है। जहां परिग्रह है वहां राग है, जहां राग है वहीं आत्मा में आकुलता रूप दुःख है और वहीं सुख गुण का घात है, और सुख गुण के घात का नाम ही हिंसा है। संसार में जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। आज जो भारत में बहुसंख्यक मनुष्यों का घात हो गया है तथा हो रहा है उसका मूल कारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व घटा देवें तो अगणित जीवों का घात स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रह के पालने से हम हिंसा पाप से मुक्त हो जाते हैं और अहिंसक बन सकते हैं। परिग्रह के त्यागे बिना अहिंसा-तत्त्व का पालन करना असम्भव है। भारतवर्ष में जो यागादिक से हिंसा का प्रचार हो गया था उसका कारण यही प्रलोभन तो है कि इस याग से हमको स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे। यह सर्व क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रह की चाह न होती तो निरपराध जन्तुओं को कौन मारता?

आज यदि इस परिग्रह में मनुष्य आसक्त न होते तब यह 'समाजवाद' या 'कम्युनिष्टवाद' क्यों होते? आज यदि परिग्रह के धनी न होते तब ये हड़तालें क्यों होतीं? यदि परिग्रह पिशाच न होता तब जमींदारी प्रथा, राजसत्ता का विध्वंस करने का अवसर न आता? यदि यह परिग्रह-पिशाच न होता तब कांग्रेस जैसी स्वराज्य दिलाने वाली संस्था विरोधियों द्वारा निन्दित न होती और वे स्वयं इनके स्थान में अधिकारी बनने की चेष्टा न करते? आज यह परिग्रह पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, ये नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहां तक अपना प्रभाव प्राणियों पर जमाये हुए है जिससे सम्प्रदायवादियों ने धर्म तक को निजी धन मान लिया है। और धर्म की सीमा बांध दी है। तत्त्वदृष्टि से धर्म तो 'आत्मा की परिणति विशेष का नाम है'। उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है? जो धर्म चतुर्गति के प्राणियों में विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्यों में मानना क्या न्याय है? परिग्रह पिशाच की ही यह महिमा है जो इस कुएं का जल तीन वर्णों के लिए है, इसमें यदि शूद्रों के घड़े पड़ गए तब अपेय हो गया! जबकि टट्टी में से होकर नल आ जाने से भी जल पेय बना रहता है! अस्तु, इस परिग्रह पाप से ही संसार के सब पाप होते हैं। श्री वीर प्रभु ने तिल-तुष मात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा व्रत की रक्षा कर प्राणियों को बता दिया कि कल्याण करने की अभिलाषा है तब दैगम्बर पद को अंगीकार करो। यही उपाय संसार बन्धन से छूटने का है। परिग्रह अनर्थों का प्रधान उत्पादक है यह किसी से छिपा नहीं, स्वयं अनुभूत है। उदाहरण की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता उससे विरक्त होने की है। आवश्यकतायें तो इतनी हैं कि संसार के सब पदार्थ भी मिल जावें तो भी उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः किसी की आवश्यकता न हो यही आवश्यकता है। संसार का प्रत्येक प्राणी परिग्रह के पंजे में है। केवल सन्तोष कर लेने से कुछ हाथ नहीं आता। पानी विलोड़ने से घी की आशा तो असम्भव ही है छाँछ भी नहीं मिल सकता। जल व्यर्थ जाता है और पीने के योग्य भी नहीं रह जाता है। परिग्रह की लिप्सा में आज संसार की जो दशा हो रही है वह किसी से अज्ञात नहीं। बड़े-बड़े प्रभावशाली तो उसके चक्कर में ऐसे फँसे हैं कि वे गरीब दीन-हीन प्रजा का नाश कराकर भी अपनी टेक रखना चाहते हैं। जो कहता है "हमने परिग्रह छोड़ा" वह अभी सुमार्ग पर नहीं आया। रागकषाय छोड़ने से पर पदार्थ स्वयमेव छूट जाते हैं। अर्थात् लोभ-कषाय के छूटते ही धनादिक स्वयमेव छूट जाते हैं। परिग्रह पर वही व्यक्ति विजय पा सकता है जो अपने को, अपनेमें, अपनेसे, अपने लिए, अपने द्वारा आप ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है। चेष्टा और कुछ नहीं, केवल अन्तरंग मे पर पदार्थ में न तो राग करता है और न द्वेष करता है। (वर्णी वाणी से साभार)

सूचना:—वीर सेवा मन्दिर सोसायटी की साधारण सदस्यता का पिछला व आगामी वर्ष का सदस्यता-शुल्क जिन सदस्यों ने नहीं भेजा है, उनसे आग्रह है कि सदस्यता-शुल्क अविलम्ब भेज दें। संस्था का आर्थिक वर्ष जून मे समाप्त होता है।

सुभाष जैन : महासचिव

वीर सेवा मन्दिर, सोसायटी २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

ओम् अर्हम्

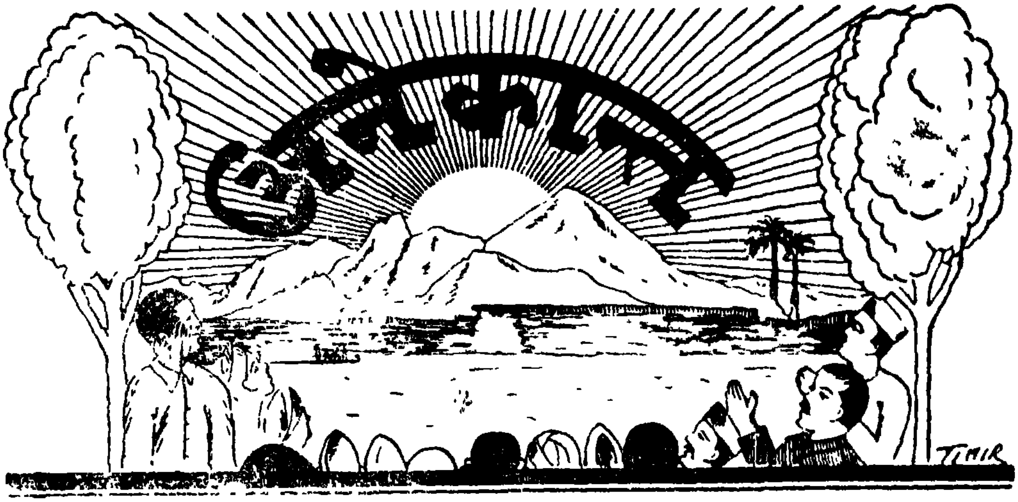

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३८ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५११, वि० स० २०४२ | अप्रैल-जून १९८५

जिनवाणी-स्तुति

परम जननी धरम कथनी, भवार्णवपारको तरनी ॥परम०॥
अनक्षरिघोष आपतकी, अछरजुत गनधरों वरनी ॥परम०॥
निरखे द्रव-नयन जोगन तें, भविन को तत्त्व अनुसरनी ।
विथरनी शब्ददरसन की, मिथ्यातममोह को हरनी ॥परम०॥
मुकति मंदिर के चढ़ने को सुगमसी सरल नीसरनी ।
अंधेरे कूप में परतां, जगत उद्धार की करनी ॥परम०॥
तृषा के ताप मेटन कों, करन अमिरत वचन झरनी ।
कथंचित्वाद आचरनी, अवर एकान्त परिहरनी ॥परम०॥
तेरा अनुभव करत मोकों, बहुत आनंदउर भरनी ।
फिर्यो संसार दुखिया हूं, गही अब आन तुम सरनी ॥परम०॥
अरज 'बुध' जन की सुन जननी, हरोमेरी जनम-मरनी ।
नमूं कर जोर मन-वच तैं, लगाके सीस को धरनी ॥परम०॥

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव और 'परिग्रह' उसे कहते हैं जो आत्मा को सर्व ओर से घेरे व बांधे रखता है—"परितो गृह्णाति आत्मानमिति —परिग्रहः" । चेतन-अचेतन, घर-जायदाद, धन-दौलत आदि अनगिनत बाह्य भौतिक पदार्थ मनुष्य को बांधे रखते हैं। वह अहर्निश उनके अर्जन, संग्रह, सुरक्षा की चिन्ता में तथा उनके नष्ट हो जाने या छिन जाने के भय से व्याकुल रहता है। वह उन्हें ही अपना जीवन-प्राण समझता है। अतएव वे सब पदार्थ सामान्यतया परिग्रह कहलाते हैं। किन्तु, वास्तव में स्वयं वे पदार्थ परिग्रह नहीं है, वरन् उनमें जो व्यक्ति की मूर्च्छा है, ममत्वभाव है, आसक्ति है, वही परिग्रह है, और इस परिग्रह का मूल कारण उसकी कामनाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, लोभ, तृष्णा या आशा हैं। जिसका चित्त इन आशा-तृष्णादि विकारों से ग्रस्त हो रहता है, उसके पास अटूट धन वैभव हो तो भी उसे सुख व शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए एक शायर ने कहा है कि—

जमीयते दिल कहां हरीपो को नसीब।
निन्नानवे ही रहे कभी सो न हुए॥

तृष्णा ग्रस्त जीवों को कभी भी चित्त की शान्ति प्राप्त नही होती। वे सदा निन्यानवे के चक्कर में पड़े रहते हैं, क्योंकि पुरानी इच्छाओं की पूर्ति के साथ ही साथ तृष्णा की सीमा आगे-आगे बढ़ती जाती है। अतः वह धनी होते हुए भी निर्धन हैं, वैभव सम्पन्न होते हुए भी रक हैं—'स हि दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला'। वह यह भूल जाता है कि—

दिल की तस्कीं भी है जिन्दगी की खुशी की दलील।
जिन्दगी सिर्फ जरोसीम का पैमाना नहीं॥

जीवन के सुख का प्रयास चित्त का सन्तोष व शांति है, मात्र धन-दौलत उसका माप-दण्ड नही हैं—वह बाह्य वैभव से नहीं मापा जा सकता।

पुरातन जैनाचार्य कह गए हैं कि जो निर्ग्रन्थ होता है, भीतर-बाहर दोनों से सर्वथा निष्परिग्रह होता है, वही सच्चा चक्रवर्ती होता है—लौकिक चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव भी उस महात्मा की दिव्य विभूति के समक्ष सर्वथा नगण्य है, हेय है। प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी डेविड थोरो की उक्ति है कि "सबसे बड़ा अमीर वह है जिसके सुख सबसे सस्ते हैं—आत्मा की आवश्यकताएँ जुटाने के लिए पैसों की आवश्यकता नही होती।" गोल्ड स्मिथ कहता है कि "हमारी प्रमुख सुविधाएँ व आरामतलबियां ही बहुधा हमारी सर्वाधिक चिन्ता का कारण होती हैं और जैसे-जैसे हमारे परिग्रह मे—हमारी धन-सम्पत्ति मे बढोत्तरी होती जाती है। हमारी चिन्ताएँ भी बढती जाती हैं, नित्य नवीन चिन्ताएँ उत्पन्न होती जाती हैं, शायद इसीलिए किसी ने कहा कि जिसने धन की सर्वप्रथम खोज की, उसी ने मनुष्य के सारे दुःख भी साथ ही साथ खोज लिए।"

अपने धर्म की, स्वरूप की, आत्मा और चित्त की शान्ति को प्राप्त करने का आधार धन-सम्पत्ति या परिग्रह नही है, वरन् उसके त्याग मे, उसकी आशा व तृष्णा के घटाने में ही निहित है।

अहमक पूछता हैं वहां जाने की राह क्या है?
जेब गर हल्की करे हर जानिब से रास्ता है।

जिन महानुभावों ने 'परिग्रह पोट उतारकर लीनो चारित पंथ' उन्ही ने आत्मधर्म प्राप्त किया है। जरा यह सोचना तो शुरू कीजिए कि धनवान होने की वह कौन सी सीमा है कि जिस पर पहुंचकर आपके और अधिक धनवान बनने की इच्छा समाप्त हो जाय? स्वय समझ में आ जाएगा कि इस मृगतृष्णा से पार नही पाया जा सकता।

(शेष पृष्ठ ३ पर)

"श्री महावीराय नमः"

पं० शिरोमणिदास कृत धर्मसार सतसई

सम्पादक—कुन्दन लाल जैन प्रिंसिपल

चौपाई

वीर जिनेश्वर पनहु देव,
इन्द्र नरेन्द्र करत सत सेव।
अरु बन्दौं हो गये जिनराय,
सुमिरत जिनके पाप नसाय ॥१॥
वर्तमान जे जिनवर ईस,
कर जोरों निज नाऊं (नमूं) सीस।
जे जिनेन्द्र भावी मुनि कहे,
पूजहूं ते मैं सुर मुनि महे ॥२॥
जिन वाणी पनहुं (प्रणमूं) धरि भाव,
भव जल राशि उतारन नाव।
पुनि बन्दौ गौतम गणराय,
धर्म भेद जिन दिये बताय ॥३॥
आचार्य कुन्द कुन्द मुनि भये,
सुमिरत जिनके सब दुख गये।
अरु जे जिनवर भये अपार,
पनहु तिनहिं ते भव दधि तार ॥४॥
सेवू सकल कीर्ति के पाय,
सकल पुरान कहे समुझाय।
जिन सद् गुरु कहि मगल लहौं,
धर्मसार शुभ ग्रन्थहि कहौं ॥५॥
ज्ञानवन्त जे मति अति जानि,
ते पुनि ग्रन्थ न सकइ बखानि।
मैं निलरज्ज मूरख अति सही,
कहू न सकौं जैसे गुरु कहि ॥६॥
अरु वा सुन जो बहुमद जनै,
तौ कह सूरज किरणें गनै।
जिनवर से ए मन बच काय,
धर्मसार कै हो सुख दाय ॥७॥
भव्य जीव सुनि कै मन धरै,
मूरख सुनि बहु निन्दा करै।
सुगति कुगति को यहु स्वभाय,
गहे जीव नहीं मैलो आय ॥८॥

(पृ० २ का शेषांश)

आशैव मदिराक्षाणाम आशैव विषमंजरी।
आशाभूतानि दु.खानि प्रभवन्ती देहिनाम् ॥
येषामाशा कुनस्तेषा मन. शुद्धि शरीरिणाम्।
अतोनैराश्यमवलम्ब्य शिवीभूता मनीषिण: ॥
तस्य मत्य-श्रुत वृत्त-विवेकस्तत्त्वनिश्चय:।
निर्ममत्वच यस्याशा पिशाची निर्धनगता ॥

बड़ी भयकर है यह धनलिप्सा ! यह तृष्णा ही समस्त दु खो की जड़ है। इस आशा पिशाचिनी के नष्ट होने पर ही सत्य, श्रुतज्ञान, चारित्र, विवेक, तत्वनिश्चय और निर्ममत्व या अपरिग्रह जैसे गुण आत्मा में प्रगट होतें हैं—उसके रहते वे व्यर्थ हैं।

अस्तु, परिग्रह मे निरासक्त रहने का अभ्यास करने, उसका परिमाण करने का तथा उक्त परिमाण की सीमा को निरन्तर घटाते जाने का अभ्यास करने से ही व्यक्ति शनैः शनेः अपरिग्रही हो जाता है, और सच्चे सुख एवं शान्ति का उपभोग करता है।

इस सन्दर्भ मे ज्ञातव्य है कि कृपालु ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर ने पदार्थो को परिग्रह नही कहा, वरन् उन पदार्थों मे होने वाली मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहा है—

न सो परिग्रहो वुत्तो नाय पुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इह वुत्तं महेसिणा ॥

□□

सुनहु भव्य तुम थिरु चितु लाय,
मुकति पन्थ मारग यह आय।
श्रावक जतिवर भेद आचार,
वर्णन करै सकल हितकार ॥६॥
दीप असंख्य कहे जिन राय,
जम्बू द्वीप तामे सुखदाय।
मेरु सुदर्शन तामे कहै,
दक्षिण दिशा भरत वर्णनयै ॥१०॥
आर्य खण्ड पुनि सोहै जहा,
मुनिवर विहरैं आरज तहा।
तामैं मगध देश सुख खानि,
स्वर्ग खण्ड मनु उतर्यो आनि ॥११॥
राजगृह तहां नगर वसाइ,
भोग भूमि मनु सोहै आइ।
दीसै जिनवर भुवन प्रकासु,
सुर नर बन्दन आवत तासु ॥१२॥
पूजा जाय बहु सज्जन करै,
मिथ्या दोष पाप परि हरै।
नर नारी मनु देवी देव,
छांड़ि कुधर्म करै जिन सेव ॥१३॥
राज करै तहं श्रेणिक भूप,
कामदेव जीतो निज रूप।
दाता शीलवन्त परवीन,
तजि कुधर्म जिन धर्महि लीन ॥१४॥
सती शीलवन्त रम्भा समवाम,
तिन्हकें रानी चेलना नाम।
राजा रानी सहित बिराजै,
कामदेव मानो सति छाजै ॥१५॥
वारिषेण सुत अभय कुमार,
इन्द्र उपेन्द्र सोहै दोइ सार।
अवर अनेक सोहै शुभ राज,
मन बाछित सब पूरै काज ॥१६॥
बैठि सिंहासन श्रेणिक भूप,
मनो इन्द्र धरि आयो रूप।
सभा सहित देखें नर ईस,
वनपा (मा) ली निज नायो सीस ॥१७॥

षट्ऋतु फूल फल आगे धरैं,
देखत दृष्टि सबके मन हरैं।
राजा देखत हर्षितगात,
वन माली बोले शुभ बात ॥१८॥
महाराज राजनि के राज,
पुण्य तुम्हारे सब सरै काज।
समोशरण विपुलाचल रचो,
रत्न पदारथ मोतिन खचो ॥१९॥
प्रभु श्री वीर जिनेश्वर देव,
आये, इन्द्र करत सब सेव।
सुनिकर राजा हर्षित भयो,
सात पैंड चलि बन्दन गयो ॥२०॥
दिशा देख तिन सीस न वाइ,
पुनि सिंहासन पर बैठे जाइ।
मन बांच्छित वन पालहि दियो,
आनन्द भेरी नगर मे कियो ॥२१॥
गोठि सहित चालेऊ नरेन्द्र,
अन — मर्याद भयऊ आनन्द।
मान स्तम्भ जब देखे राय,
गलित मान सब ही को जाय ॥२२॥
रथ तैं उतरि पायदे भये,
जय जय करत सभामे गये।
श्री जिनेन्द्र जब बन्दे जाय,
जनम जनम के पाप नसाय ॥२३॥
दोऊ कर जोड़ि प्रदक्षिणा दई,
निर्मल मति राजा की भई।
सीस नवाइ जिनेन्द्रहिं पेखियो,
जनम सफल राजा देखियो ॥२४॥
अष्ट भेद विधि पूज कराय,
जातैं आवा गमन नसाय।
तुम जिनेन्द्र त्रिभुवन आधार,
मुक्ति कामिनी तुम उर हार ॥२५॥
निष्कलंक परमातमा ईस,
वीतराग पावन जगदीश।
ज्योति रूप निरजन शुद्ध,
चिदानन्द भगवान सुबुद्ध ॥२६॥

अजर अमर तुम दीन दयाल,
पुरुषोत्तम पावन जगपाल।
तुम्हरो ध्यान धरै नर कोइ,
त्यागि देह परमातम होइ ॥२७॥
अष्ट भेद विधि पूज कराय,
जातै आवागमन नशाय।
तुम जिनेन्द्र त्रिभुवन आधार,
मुक्ति कामिनी तुम उर हार ॥२५॥
जो नर पूज तुम्हारी करै,
भव सागर मो लीजै तरै।
जो जस करै तुहारो आय,
ताकी कीरति रही जग छाय ॥२८॥
जो नर शरण तुम्हारो लेइ,
सो भव दुख जलाजलि देइ।
जो तुम्हरी पनु राखे देव,
सुरपति आय करै तसु सेव ॥२६॥
गणधर देव जो मनि अति सार,
तबहु न तुम गुण पावहिं पार।
हमसे नर जउ दोपनि बनै,
तुम गुण जाइ न हमसों गनै ॥३०॥
नमो नमो तुम दया निवास,
नमो अरहन्त नमो गुण वास।
तुम्हरी सेवा यह फल पाऊ,
जातें भव सागर तरि जाऊं ॥३१॥
इह विधि राजा सुकृत कमाए,
क्षायक समकित फल तिन पाए।
पुनि श्रेणिक तव गये तहा,
गौतम गणधर बैठे जहाँ ॥३२॥
दोऊ कर जोडि जु बन्दे पाय,
पुनिनर कोठा बैठे जाय।
अशोक वृक्ष जब देखो भूप,
शोक रहित पेखो निज रुप ॥३३॥
पुष्प वृष्टि वरसें असरार,
महा सुगन्ध सकल हितकार।
चौसठि चवर ढोरें सुरराय,
चन्द्रकिरण दीसै अधिकाय ॥३४॥
सिंहासनत्रिक तापरि दीस,
अन्तरीक्ष कमलासन ईस।
तीन छत्र ऊपरि अति रहे,
तीन लोक की प्रभुता कहै ॥३५॥
भामण्डल द्युति अधिक प्रकासै,
कोटि सूर्य शशि छबितहिं नासै।
दुंदुभि देव बजावहिं तार,
साढे बारह कोटि अपार ॥३६॥
जिनवर वाणी जबहुं छलै,
सकल जीव के संशय गलै।
द्वादश अंग मुनि गणधर कहैं,
सकल जीव मुनिकै मन धरै ॥३७॥
श्रेणिक पूछै मन बच काय,
धर्म भेद कहिए समुझाय।
स्वर्ग मोक्ष फल कैसे होय,
सो कृपा करि वरणै सोइ ॥३०॥
श्रावक जतिवर भेद है जैसे,
सो समुझावो मुनिवर तैसे।
कसे जीव चहुगति मे परै,
कैसे जीव भव सागर तिरै ॥४०॥
पगु अन्ध निर्धन धनवन्त,
नउ पण्डित पद पावहिं सन्त।
पुत्र हीन बहु रोग अपार,
बहुत दुख भुगतै ससार ॥४१॥
ए पुनि अवर कहे हित जानि,
तुम उपकार करो सुख खानि।
दया दान दीजै उपदेश,
जातें तिरै ससार अशेष ॥४२॥
द्वादश कोठा के सब प्राणी,
श्रेणिक प्रश्न यहै मन मानी।
धन्य धन्य श्रेणिक तुम उपकारी,
गणधर पूछै सब हितकारी ॥४३॥

दोहा

हस्त कमल दोऊ जोड़िकर श्रेणिक प्रश्न जु कीन।
मनमैं अतिदृढ़ता भई, सुभये धर्म पर लीन ॥४४॥

श्री जिन चरण हृदय रहैं सकल कीर्ति उपदेश।
पण्डित सिरोमणि दास कों शिवपुर-देहु-प्रवेश ॥४५॥

इति श्री धर्मसार ग्रन्थें भट्टारक श्री सकल कीर्ति-उपदेशात् पण्डित शिरोमणि विरचिते राजा श्रेणिक प्रश्न करण वर्णनो नाम प्रथमो सन्धि ॥१॥

अथ द्वितीय सन्धि प्रारभ्यते :

चौपाई

प्रभु मुख निर्मल ध्वनि जब ठई,
अर्ध मागधी वाणी ठई।
द्वादशांग मुनि गण धर करैं,
सकल भव्य के पातक हरैं ॥१॥
गणधर कहै सुनिर्मल वाणी,
सुन श्रेणिक तुम थिर चित आनी।
धर्म मूल सम्यक्त्व कहावै,
जातें जीव महा सुख पावै ॥२॥
जिनवर वाणी निश्चय करै,
गुरु निर्ग्रन्थ सत्य मन धरै।
दया धर्म कहिए संसार,
यह समकित तारै भव पार ॥३॥
सात प्रकृति जब उपशम करै,
उपशम समकित तब जीव धरै।
पुनि सातऊ की करै निरासा,
क्षायक समकित है गुण वासा ॥४॥
कछु उपशम कछु नासै लोइ,
वेदक समकित कहिए सोइ।
तीनों मिलि पुनि नवधा भए,
दसधाभेद अबर जिन कहै ॥५॥

अथ समकित उत्पत्ति, चिन्हु, नासन, भूषण, दूषण, अतिचार गुण, गति, फल वर्णन कथ्यते—

दोहा

अध, अपूर्व, अनवृत्ति त्रिक, करण करैं जो कोइ।
मिथ्या ग्रन्थि विदारि कै गुण प्रकटे समकित होइ ॥६॥
सात बीस जे तत्त्व है, वर्तत तीनो काल।
तिनके भेद विचार में, समकित होय तत्काल ॥७॥
चार लब्धि इह जीव कैं, भई अनन्त जु वार।
करण लब्धि जब आव ही, उपजै समकित सार ॥८॥

चौपाई

सुनु श्रेणिक समकित को वास,
समकिति उत्पति चिन्ह विनास।
भूषण, दूषण, हैं अतिचार,
पुनि गुण वरनो अष्टो सार ॥९॥

अथ सम्यक्त्व यथा

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी,
समता सब सों दिन दिन ताकी।
सत्य को लाभ क्षण क्षण होय,
समकित नाम कहावै सोय ॥१०॥

अथ उत्पत्ति

कै तो सहज ऊपजै आय,
कै मुनिवर उपदेश बताय।
चारो गति में समकित होई,
यह उत्पत्ति जो तुम लोई ॥११॥

अथ चिन्ह

आपा पर सों करै विशेष,
उपजै नही सन्देह अशेष।
सहज प्रपच रहित हितकारी,
समकित चिन्ह धरै सा चारी ॥१२॥

अथ नाश दोहा

ज्ञान गर्व मति मन्दता, निठुर वचन उद्गार।
रुद्र भाव आलस दशा, नाश पांच प्रकार ॥१३॥

अथ भूषण

चित्त प्रभावना मन में ठानै, हेय उपादेय लक्ष्य न जानै।
धीरज सहज हरषता होय, प्रवीनजु पंचहु भूषण सोय ॥१४॥

अथ दूषण

षट् अनायतन मूढ़ त्रिक, मद अष्टौजिय जानि।
शंकादिक अष्टौ कहै, ए पच्चीस बखानि ॥१५॥

अथ षट् अनायतन

कुगुरु कुदेव कुधर्म धर कुगुरु कुदेव कुधर्म्म।
इनकी करै सराहना, यह षट् अनायतन कर्म्म ॥१६॥

अथ मूढ़ त्रय

देव कुदेव जु एकहु जानै, सुगुरु कुगुरु जो समकरि मानै।
शास्त्र कुशास्त्र जु एकहु लहै, मूढ़ तीन ए सद्गुरु कहै ॥१७॥

अथ अष्ट मद

जाति लाभ कुल रूप वय, विद्या तप अधिकत जानि।
एक अष्टौ मद है दुखदाई, इनकी संगति दुर्गति जाई ॥१८॥

अथ शंकादिक दोष

आशका अस्थिरता वाछा,
ममता दृष्टि सदा दुर गछा।
वत्सल रहित दोष पर भाषै,
चित्त प्रभावना माहि न राखै ॥१६॥

अथ अतिचार

लोग हास भय भोग रुचि धरै,
अग्र सोच थिति निश्चय करै।
मिथ्या आगम भक्ति प्रकासै,
मृषा अदर्शनो सेवा भासै ॥२०॥

अथ अष्ट गुण

देह भोग ससार विनासी,
इनते जबनर होय उदासी।
इनकी सगति दुर्गति लहिए,
सवेग भावना तासौं कहिए ॥२२॥
न कोऊ काहू को हितकारी,
न हम काहू के अतिभारी।
आप आपुको आपहि बाधै,
यह निर्वेद भावना साधै ॥२३॥
पर निन्दा कीन्हे सन्ताप,
पर को दुःख दिये बहु पाप।
अपनी निन्दा आपुहि करै,
सो समकित को गुण ले तिरै ॥२४॥
व्रती साधु देखे साचारी, ताकी महिमा कीजे भारी।
जो विषयी की महिमा करै,सोनर निश्चय दुर्गति भरै ॥२५॥
दया दान सब ही को दीजै,
क्षमा भाव सब ही सो कीजै।
दुख सुख निदान न कबहुं करै,
सो समकित पचम गुण धरै ॥२६॥
नवधा भक्ति कही गुरु जैसी,
कीजे आप जिनिवर की तैसी।
आपनु करहि और सो कहई,
अष्टम गुण समकित को लहई ॥२७॥
ज्ञानी व्रती असहायी देखै,
यती साधु जो रोगी पेखै।
ताको सहाय करै निज हेत,
यह वत्सल गुण जानो चेत ॥२८॥
त्रस थावर जे कोई जानै,
सूक्ष्म, वादर जिय में आनै।
दया जीव की पालहु वीर,
अनुकम्पा गुण जानहु धीर ॥२६॥
ए आठहु गुण आवहिं जबही,
जियको ऊपजै समकित तबही।
पुनि पाचहु मिथ्यात्व नसावै,
समकित निर्मल तब जीव पावै ॥३०॥

अथ पंचमिथ्यात्व के नाम कवित्त इकतीसा

प्रथम एकात नाम मिथ्यात्व, अभिग्राहिक दूजो विपरीत,
आभिनिवेशिक गोत है।
तीजो विनय मिथ्यात्व, अनाविग्रह नाम जाको, चौथो संशय
जहां चित भंवर कैसों पोत है।
पाँचमों अज्ञान अनभोगी, कगहल रूप जाके उदय चैन
अचेतन सो होत है।
यही पाचों मिथ्यात्व भ्रमावै जीव को, जगत में उनके
विनास समकित को उदोत है ॥३१॥

अथ एकान्त

जो एकांत पक्ष मन आनै,
मय अनेक जो भेद न जानै।
मृषावन्त हठ दक्ष कहावै,
सो एकांत मिथ्यात्व कहावै ॥३२॥

अथ विपरीत

आदि अन्त जे भेद बताए,
सुनि सब गुन धरके मन भाये।
ताको उथपि जु नौतन धरै,
सोविपरीत मिथ्यातें खचै ॥३३॥

अथ विनय दोहा

देव कुदेव सुगुरु कुगुरु गनै समान जो कोई।
नमै भक्ति सो सबनिको, विनय मिथ्यान्वी सोई ॥३४॥

अथ संशय

जो नाना विकलप गहे, रहे हिये हैरान।
थिर के तत्व न श्रद्ध है, सो जिय संशय मान ॥३५॥

अथ अज्ञान : चौपाई

निजको सुख दुख जानै है चेत,
परपीडा जो करइ सुचेत।
अपने स्वारथ परहिं सतावै,
सो अज्ञान मिथ्यात कहावै ॥३६॥

अथ सादिमिथ्यात्व

मिथ्यात्व सकल जो उपशम करै,
ग्रथ भेद बुध पापहिं हरै।
फेर उदय मिथ्यात्वहि आवै,
साहु सादि मिथ्यात्व कहावै ॥३७॥

अथ अनादि मिथ्यात्व

उपशम भाव न कबहुं भयो,
अन्तकाल जीव भ्रमतनि गयो।
ममता मगन विकलप ह्वै रहो,
अनादि मिथ्यात्व यह सद्‌गुरु कहो ॥३८॥

अथ मिथ्यात्व करनी

अरु मिथ्यात्व करनी दुखदाई,
तजिए समकित हेतु जु भाई।
हाथी घोड़ो बैल जु गाय,
पूजा इनकी है दुखदाय ॥३९॥
पूरब पाप करै जीव घोर;
तब जीव मर कै होय जु ढोर।
जो नर पूजा इनकी करै,
सो नर निश्चय दुर्गति परै ॥४०॥
बड़, पीपल, ऊमर आवरी,
तुलसी दूब निगोदह भरी।
इनकी सेवा जो नर करै,
सो नर निश्चय दुर्गति परै ॥४१॥

व्यंतर भूत सती शीतला,
सूरज दिया (दीपक) चन्द्र की कला।
यक्ष नाग ग्रह देवी जानै,
नदी होय जे आयुध मानै ॥४२॥
गोबर थापि जु पूजा थानै,
गाय मूत्र ले मुख मे आनै।
बवें (बोना) भुजरिया खोटें मूठ,
करे श्राद्ध जानि जन रूठ ॥४३॥
पुनि अवर सुनो तुम राजा,
तजिए समकित हेतु के राजा।
मिथ्या मारग छोडै रहो,
सो समकित जीव निश्चै लहो ॥४४॥

अथ सम्यक्त्व महिमा

थावर विकल त्रय कहै, निगोद असैनी जानि।
म्लेच्छखंड जे जिन भणं, कुभोगभूमि मन आनि ॥४५॥
षट् अध भूमि जु नरक की, खोटी मानुष जाति।
तीन वेद होइ वेद पुनि, ए जानो दुख पाति ॥४६॥

चौपाई

जब समकित उपजै सुनि भूप,
ए सब पदवी धरै न रूप।
यह मब महिमा समकित जानि,
होई जीव को सब सुख खानि ॥४७॥
नर गति में नर ईश्वर होय,
देवनि मे पति जानो सोय।
इह विधि भव जीव पूरण करै,
पुनि सो मुक्ति रमणी को बरै ॥४८॥
नभ में जैसे भानु है ईस,
रत्ननि मे चिंतामणि दीस।
कल्प वृक्ष वृक्षनि में हार,
देव जिनेन्द्र देबनि में सार ॥४९॥
सकल नगनि (पर्वत) में मेरु है जैसे,
सब धर्मनि में समकित तैसे।
यही जानि जीव समकित धरो,
भव सागर दुख जातें तरो ॥५०॥

(शेष पृ० १६ पर)

भ. महावीर जन्मस्थान विषयक विवाद

☐ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

कैसी विचित्र बात है कि प्राचीन भारत के सर्वमहान परम पुरुषों मे परिगणित निर्ग्रन्थ-श्रमण जैन परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रन्थ-ज्ञातृपुत्र भगवान वर्धमान महावीर (५६६-५२७ ईसापूर्व) जैसे असदिग्ध रूप से ऐतिहासिक व्यक्तित्व के पावन जीवन से सम्बद्ध प्रमुख स्थानों की पहचान अभी तक सुनिश्चित नही हो पाई—उनकी जन्मभूमि, दीक्षावन, कैवल्य प्राप्ति स्थान और निर्वाण भूमि की सही-सही चिन्ह आज भी विवाद का विषय बनी हुई है। उनका जीवन, व्यक्तित्व एव कृतित्व आधुनिक इतिहास वेत्ताओ की दृष्टि से भी प्रमाण सिद्ध शुद्ध इतिहासकाल की परिधि के भीतर आते हैं। उनके निर्वाणोपरान्त के गत अढाई सहस्र वर्षों मे उनकी शिष्य परम्परा के आचार्यो की तथा उनके द्वारा पुर्नगठित मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ की परम्परा प्राय· सम्पूर्ण भारत महादेश व्यापी होकर अविच्छिन्न रहती आई है। प्राप्त शिलालेखो मे उनके उल्लेख ई० पूर्व पाचवी शती से उनकी प्रतिमाएँ अथवा कला मे उनके मूर्त्तांकन तीसरी शती ई० पूर्व से और लिखित साहित्य में भी ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पूर्व से ही उनके उल्लेख तथा जीवन की घटनाओ के सन्दर्भ मिलने लगते हैं—जैन साहित्य में ही नही, ब्राह्मण एव बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य मे भी उनके उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनके पचकल्याणक स्थान भी पवित्र तीर्थ क्षेत्रो के रूप मे वन्दनीय रहते आये हैं। देश के अनगिनत जिन मन्दिरो मे परम उपास्य के रूप मे उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। विभिन्न प्राचीन एव अर्वाचीन भाषाओ तथा विविध शैलियों में रचित उनसे सम्बन्धित साहित्य भी विपुल हैं। किन्तु जबकि उनके पूर्ववर्ती ऋषभादि-पार्श्वनाथ पर्यन्त २३ तीर्थंकरों के जन्म-दीक्षा-ज्ञान-निर्वाण स्थल, एकाध अपवाद को छोड़कर, प्राय: असदिग्ध रूप से सुनिश्चित रहते आये हैं, स्वय भगवान महावीर की जन्मभूमि दीक्षावन, कैवल्य प्राप्ति स्थल और निर्वाण क्षेत्र की स्थिति के विषय में कई-कई मत भेद हैं—निर्वाणभूमि पावा या पावापुरी के कम से कम चार विकल्प सामने आये हैं, केवलज्ञानस्थल, ऋजुपालिकानदी तटवर्ती जृंभिकग्राम के बहिर्उद्यान की स्थिति मात्र अनुमानाधारित है, और ज्ञातृखण्डवन नामक उनकी दीक्षाभूमि को क्योंकि जन्म-भूमि कुण्डपुर का निकटस्थ वन सूचित किया गया है, जन्मभूमि की मान्यता के सान्यता के साथ ही उसके भी तीन विकल्प हो जाते हैं। छद्मस्थकाल तथा तदुपरान्त भी उन्होंने किन-किन स्थानों में विहार किया, या कहां-कहां उनका समवसरण गया, तद्विषयक पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात भी उनमे से अनेक स्थानों की पहिचान सुनि-श्चित नहीं है—केवल राजगृह (वर्तमान पटना जिले का राजगिर) अपरनाम पचशीलपुर, जो महावीर युग में मगधदेश एव साम्राज्य की राजधानी थी, और जिसके विपुलाचल, वैभारगिरि आदि पर भगवान का समवसरण अनेक बार जुड़ा और उनका लोक कल्याणकारी दिव्य उपदेश हुआ, की पहिचान एवं स्थिति ही सुनिश्चित है।

उपरोक्त भ्रान्तियो का एक कारण तो शायद यह रहा कि भगवान महावीर की परम्परा के प्रारम्भिक आचार्य, कमसे कम लगभग छ:-सात शताब्दियो पर्यन्त, सर्वथा निरारम्भी निष्परिग्रही ज्ञान-ध्यान-तपोरत निर्ग्रन्थ वनवासी सन्त रहे, जिनका लोकसंग्रह तथा स्थूल इतिहास जैसे लौकिक ज्ञान के प्रति उपेक्षा भाव रहा। अतएव, यद्यपि उस काल मे भगवान महावीर से सम्बद्ध स्थान जैन धर्म के प्रमुखगढ़ या केन्द्र रहते रहे, तत्सम्बन्धित भौगो-लिक एवं ऐतिहासिक सूचनाएँ भावी सन्ततियों के लिए सुरक्षित नही रह पाई। दूसरे, उक्त काल के उपरान्त, जब जैनाचार्यो की ऐतिहासिक जिज्ञासा जागृत भी हुई तो वे स्थान काल दोष से—प्राकृतिक, आर्थिक आदि अनेक कारणों से—जैनजनशून्य हो गये, उनमे जो सुन्दर एवं विशाल महानगर थे वे भी अधिकांशत: ध्वस्त एवं निर्जर होकर शनै:-शनै: विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये—

परम्परा अनुश्रुतियों में उनके नाम मात्र बच रहे। लगभग एक-डेढ़ सहस्त्र वर्ष के इस अन्धान्तराल का परिणाम यह हुआ कि लोग उनकी ठीक स्थिति की पहिचान भी भूल गये। उत्तर मध्य काल, अर्थात गत चार-पांच शताब्दियों मे जब व्यापार व्यवसाय या अन्य ऐसे ही कारणों से अन्य प्रदेशों के जैन बिहार-बगाल के प्रमुख नगरो में जाकर बसने लगे तो उन्होने अपने भगवान महावीर सम्बन्धी तीर्थस्थानों की खोज की। जहां कुछ ठोस आधार मिले तथा राजगिर विषयक, अथवा अपेक्षाकृत कुछ पुरातन मान्यता प्राप्त हुई यथा पावापुर विषयक, उन्हे तो मान्य कर ही लिया गया, और जहां यह सुविधा नही वहां अनुमान, कल्पना, अथवा किसी भट्टारक या यति की प्रेरणा से तीर्थ स्थापना कर ली गई। भगवान की जन्मभूमि के विषय मे कुछ ऐसा ही हुआ लगता है। दिगम्बरो ने राजगिर के निकटस्थ नालन्दा के खण्डहरो के उस पार स्थिति बडागाव के बाहर मन्दिर निर्माण करके जन्मभूमि कुण्डलपुर की स्थापना कर ली और श्वेताम्बरो ने मुगेर जिले मे जमुई के निकट सिकन्दरा प्रखण्ड के एक गांव को जिसे लछआड या लिछुआड़ भी कहते हैं, जन्म-स्थान की मान्यता दे दी। ये दोनों मान्यताएँ डेढ़-दो सौ वर्ष पुरानी प्राय: आधुनिक ही हैं। किन्तु जब एक मान्यता चल पड़ती है तो अनुयायी समुदाय उसे पकडकर बैठ जाता है, उसमे परिवर्तन करने से उसकी भावनाओ को ठेस लगती है।

लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व भारत सरकार के तत्वावधान में देश के विभिन्न प्रांतो के पुरातात्विक सर्वेक्षण का कार्य जोर शोर के साथ प्रारम्भ हुआ। जनरल कनिंघम आदि ये सर्वेक्षण प्राय. तब ही विदेशी थे, और उस समय तक बौद्ध धर्म एवं बौद्ध अनुश्रुतियों से भलीभांति परिचित हो चुके थे। अतः तत्सम्बन्धित प्राचीन स्थानों की खोज और पहिचान उनका प्राथमिक लक्ष्य रहा। फाहयान (चौथी शती ई०), युवान च्वाग (सातवी शती ई०) प्रभृति कई चीनी बौद्ध यात्रियो के यात्रा-विवरण भी उन्हें उपलब्ध थे। अतः उक्त बौद्ध स्थलों की पहिचान मे इन वृत्तांतों को प्रायः मूलाधार बनाया गया। फलस्वरूप राजगृह, पाटलिपुत्र, बोधिगया, नालंदा, श्रावस्ती, साकेत, प्रयाग, कौशाम्बी, कम्पिल, सारनाथ आदि बौद्ध अनुश्रुतियों के महत्वपूर्ण स्थानों की खोज एवं पहिचान की गई। किन्तु स्वय भगवान बुद्ध के पिता की राजधानी कपिलवस्तु की निश्चित पहिचान अभी नही हो पाई है। उनकी जन्मस्थली लुम्बिनि की स्थिति भी सर्वथा सुनिश्चित नहीं है और उनके जीवन से सम्बन्धित मल्लों की पावा की पहिचान भी, जहाँ चुन्द लुहार ने उन्हें "शूकर मद्दव" का आहार दिया बताया जाता है, जिसे खाकर कुछ ही समय पश्चात् कुशीनगर मे उनका परिनिर्माण हुआ। अभी विवादस्थ है—देवरिया जिले के पडरौना, पपउर और सठियावडीह—फाजिलनगर, तीन विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं। अन्तिम स्थान को पावानगर नाम देकर अनेक जैन उसे ही महावीर की निर्वाण भूमि भी मानने लगे हैं।

प्राचीन बौद्ध स्थानों की खोज के सिलसिले मे वज्जिगण सघ की केन्द्र विदेह देशस्थ महानगरी वैशाली का अनुसन्धान भी चालू था। अन्ततः गगानदी के उत्तर मे, उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले मे स्थित बसाढ़ या बनियाबसाढ नामक गाँव व आस-पास के क्षेत्र को प्राचीन वैशाली के रूप मे चीन्हा गया। इस विषय मे देशी-विदेशी जैन व अजैन विद्वानो मे प्रायः मतभेद नही है।

सयोग से, महावीर—बुद्धकाल मे जिस वज्जिगणसघ की महानगरी वैशाली थी, उसके गणाध्यक्ष लिच्छविकुलोत्पन्न महाराज चेटक थे। उनकी सुपुत्री त्रिशला देवी, अपरनाथ प्रियकारिणी एवं विदेहदत्ता, कुण्डलपुर, (कुण्डपुर, कुण्ड ग्राम, क्षत्रियकुण्ड, क्षत्रियकुण्ड ग्राम या वसुकुण्ड) के नरेश सिद्धार्थ के साथ विवाही थी, और इस महाभाग दम्पति के सुपुत्र ही तीर्थकर महावीर थे।

पूज्यादीय निर्वाणभक्ति (पाचवी शती ई०) जिनसेनीय हरिवंश पुराण (७८३ ई०), गुणभद्रीय उत्तरपुराण (लगभग ८५० ई०) प्रभृति पुरातन दिगम्बर साहित्य मे "विदेह देशस्थ कुण्डपुर" को भगवान महावीर की जन्म-भूमि सूचित किया है। श्वेताम्बर परम्परा के आचारांग, कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि पुराण ग्रथों में उसका वर्णन "उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सनिवेश", क्षत्रियग्राम नगर, क्षत्रियकुण्डग्राम नामरूपो में हुआ है।

अस्तु, विद्वत्समुदाय की अधिकांशतः यह धारणा आई है विदेहदेश (उत्तरी बिहार) की महानगरी वैशाली का ही एक सन्निवेश उपनगर अथवा नातिदूर स्थित नगर अथवा नातिदूर स्थित नगर ही भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर (कुण्डग्राम वा क्षत्रियकुण्डग्राम) था। प्राचीन जैन साहित्य मे भगवान का एक विशेषण "वैशालिक" भी प्राप्त होता है—इससे भी उपरोक्त निष्कर्ष की पुष्टि है। हेमचन्द्राचार्य ने एक स्थान पर उक्त नगर को "सिद्धार्थपुर भी कहा है। यतिवृषभ ने "कुण्डल" और षट्खण्डागम के वेदनाखण्ड मे 'कुण्डलपुर' नाम रूप मिलते हैं।

वर्तमान शती के द्वितीय दशक तक वर्तमान बसाढ़ के के साथ प्राचीन वैशाली का समीकरण प्रायः सुनिश्चित हो चुका था। सुनने मे तो यह भी आया है कि उत्तरी बिहार के छपरा आदि जिलों के जैन उक्त स्थान को जन्मभूमि मानकर वहां पहिले भी जाते-आते रहे है। किन्तु तीसरे दशक से उसका प्रभूत प्रचार भी हुआ। जिसमे पटना के इन्जीनियरिंग कालेज के प्रो० अनन्तप्रसाद जैन लोकपाल छपरा के श्री कन्हैयालाल सरावगी प्रभृति कई सज्जनो ने विशेष योग दिया। शनैः शनैः वैशाली बिहार नाम से बसाढ़ मे एक जैन धर्मशाला तथा महावीर जिनालय का निर्माण हुआ। स्व० साहू शान्तिप्रसादजी की प्रेरणा एवं दानशीलता के फलस्वरूप वहां वैशाली जैन अहिंसा एवं प्राकृत शोध सस्थान की स्थापना हुई। प्रति वर्ष भगवान महावीर जयन्ती उत्सव भी वहां नियमित रूप मे मनाया जाने लगा। बसाढ़ से लगभग पांच कि० मी० की दूरी पर उत्तर दिशा मे स्थित एक स्थल के साथ वसुकुण्डपुर का समीकरण करके वहां भगवान के जन्मस्थान के अतिभव्य स्मारक का शिलान्यास भी समारोह पूर्वक हो चुका है।

अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय जैनेतर विद्वानो के अतिरिक्त ब्र० शीतल प्रसाद जी ने १६२२ ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक "बिहार, बगाल, उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक" (पृ० २८) मे स्पष्ट लिखा था कि "इसी वैशाली मे जो कुण्डग्राम है वही श्री महावीर स्वामी का जन्म स्थान है। वहां पर तीर्थंकरो की मूर्तियों के निकलने से यह बात प्रगट है।" तदनन्तर श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक "श्रमण भगवान महावीर" (पृ० २५) मे इसी मत की पुष्टि की और "आजकल" या "आधुनिक" क्षत्रियकुण्ड (अर्थात लछुआड) विषयक नवीन मान्यता का खण्डन किया। श्वेताम्बराचार्य विजयेन्द्रसूरि ने १६४६ ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक "वैशाली" में पर्याप्त ऊहापोह करके अन्त मे (पृ० ४०-४१) लिखा है—"यह स्पष्ट है कि भ्रान्तिवशलिच्छुआड के निकट पर्वत के ऊपर के स्थान को क्षत्रियकुण्ड मान लिया गया है। यहां भगवान का कोई भी कल्याणक-चवन, जन्म और दीक्षा-नही हुआ। शास्त्रो के अनुसार हमारी यह सम्मति है कि जो स्थान आजकल बसाढ नाम से प्रसिद्ध है वही प्राचीन वैशाली है। इसी के निकट क्षत्रियकुण्डग्राम था जहां भगवान के तीन कल्याणक हुए थे। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने भी अपनी पुस्तक "भारत के प्राचीन जैन तीर्थ" (बनारस, १६५२, पृ० २८-२६) में लिखा है कि "मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ ग्राम को प्राचीन वैशाली माना जाता है। वैशाली के पास कुण्डपुर नाम का एक नगर था। यहां महावीर का जन्म हुआ था। कुण्डपुर क्षत्रिय कुण्डग्राम और ब्राह्मण कुण्डग्राम नामक दो मोहल्लों मे बटा था। कुण्डपुर मे ज्ञातृखण्ड नाम का सुन्दर उद्यान था। महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी। आधुनिक वसुकुण्ड को कुण्डपुर माना जाता है।" स्थानकवासी आचार्य हस्तीमल्लजी के ग्रथ "जैन धर्म का मौलिक इतिहास—प्रथम भाग (जयपुर, १६७१ पृ० ३५०-३५२) मे तथा प० बलभद्र जैन की "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ—द्वितीय भाग" (बम्बई, १६७५ पृ० ३६-४२) मे भी नालन्दा वाले कुण्डलपुर और लिछुआड वाले क्षत्रियकुण्ड, दोनो को ही आधुनिक एवं भ्रान्ति मान्यताएं सिद्ध किया है, तथा बसाढ़ (वैशाली) के कुण्डपुर को ही जन्मस्थान सूचित किया है। अन्य अनेक विद्वानो का भी यही अभिमत है।

गत नवम्बर ८४ मे मधुबन (शिखर जी) मे आयोजित तथाकथित सेमीनार मे यह विवाद पुनः उठाया गया और लछुआड़ का पूरा समर्थन किया गया। किन्तु उसकी रिपोर्टो एवं प्रतिक्रियाओं को देखने से तो नही लगता कि इस विवाद का निवेड़ा हो गया है। □□

पूर्व मध्यकालीन भारत में नैतिक धर्म का पतन

[१००० ई० से १२००]

□ प्रदीप श्रीवास्तव

व्याख्याता : अग्रवाल कालेज, जयपुर

सोमेश्वर के "मानसोल्लास" से इस काल के राजाओं के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दक्षिण-पश्चिमी भारत के चालुक्य राजा ऐसे प्रासादो में रहते थे जिनमे ऋतुओ के अनुरूप कक्ष थे। वे ऋतुओ के अनुरूप ही खाद्य और पेय का सेवन करते थे। उनकी अनेक रानियां होती थी। वे अपना अधिकतर समय अस्त्र-शस्त्रों की प्रतियोगिताओ, हाथियों के प्रदर्शनों, घोडो के पोलो जैसे एक खेल, पहलवानों की कुश्तियों, मुर्गों, बटेरो, मेढ़ो, भैंसों कबूतरो के युद्धों को देखने मछली मारने, शिकार करने, सगीत और कहानी सुनने में बिताते थे। राजसभा में अनेक प्रदेशों की सुन्दरियां राजा का मनोविनोद करती थी। इसी प्रकार का भोगविलास का जीवन तत्कालीन अन्य राजा विताते थे। उनमें उस कर्तव्य-परायणता का पूर्ण अभाव था जिस का उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है कि प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख है।

नैतिकता की दृष्टि से इन राजाओं का जीवन बहुत गिरा हुआ था। वे अनेक प्रदेश की सुन्दरी स्त्रियों के साथ रंग-रलियां करने में अपना अधिकतर समय व्यतीत करते थे उन्हें प्रजा के सुख की लेशमात्र भी चिंता न थी।[१] कुंतल नरेश परमर्दी नंगी स्त्रियों का नृत्य देखकर अपना मनोविनोद करता था।[२] बंगाल का राजा लक्ष्मणसेन एक चांडाल स्त्री के साथ सहवास करता था।[३] वाराणसी के राजा जयचन्द्र ने एक नागरिक की पत्नी सुहवा का अपहरण करके उसे अपनी पटरानी बनाया।[४] कल्हण ने भी कश्मीर के कई राजाओं के व्यभिचार-पूर्ण जीवन का विशद वर्णन दिया है। कलश और हर्ष अपना पूरा समय विषयासक्ति में बिताते थे। हर्ष ने अपनी बहनों तक के सतीत्व को नष्ट किया।[५] कथासरित्सागर में राजाओं के नैतिक पतन की अनेक कथाएं हैं।[६] हम्मीर महाकाव्य से हमे ज्ञात होता है कि चाहमान राजा हरिराय ने अपने राज्य की पूरी आय स्त्रियो और नर्तकियो के चक्कर में उड़ा दी थी।[७]

मद्यपान :

मानसोल्लास के अनुसार राजा को मद्यपान नही करना चाहिए किन्तु विवाह के अवसर पर सब लोग मदिरा सेवन करते थे। गोष्ठियों मे राज-परिवार के लोग, गुड, चावल के आटे, अगूरो और नारियल, कटहल और आम के रस से बनी मदिराओं का सेवन करके मनोविनोद करते थे।[८] इन अवसरो पर स्त्रियां भी मदिरापान करती थी।[९] ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे पानोत्सवों का राजकीय परिवारों में सामान्यतः आयोजन किया जाता था।[१०] हेमचन्द्र के अनुसार जब सिद्धराज गर्भ में था रानी मयणल्ल देवी को मदिरापान छोड़ना पड़ा था।[११] लक्ष्मीधर[१२] और चंडेश्वर[१३] के अनुसार ब्राह्मणों को गुड़, शहद और चावल से बनी शराब नहीं पीनी चाहिए किन्तु क्षत्रिय और वैश्य उत्सवों के अनुसार ऐसा कर सकते हैं। नैषधचरित से हमें ज्ञात होता है कि विवाह में व्यवस्था मे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों को मदिरा दी जाती थी।[१४] कथा-सरित्सागर से ज्ञात होता है कि अनेक व्यापारी मदिरापान करते थे।[१५] कल्हण के वर्णन से भी इस बात की पुष्टि होती है।[१६] क्षेमेन्द्र ने "तक्षक यात्रा" नामक उत्सव का वर्णन किया है जिसमें लोग खूब शराब पीते थे।[१७] बिल्हण से ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी काम-क्रीड़ा से पूर्व मद्यपान करती थीं।[१८] कुमार-पाल ने गुजरात में शराब बनाने व पीने पर प्रतिबन्ध लगाना चाहा था किन्तु वह ऐसा करने में असमर्थ

रहा।[११] इसका यही अर्थ है कि गुजरात मे अधिकतर व्यक्ति मद्यपान करते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है। कि भारत में इस समय धनी परिवारो मे मद्यपान को बुरा नही समझा जाता था।

आत्म हत्या :

लक्ष्मीधर ने मत्स्यपुराण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वाराणसी में अपने को अग्नि मे जलाकर, प्रयाग मे संगम पर डूब कर और अमर कटक पर्वत से कूदकर नर्मदा नदी मे डूबकर आत्महत्या करने से मनुष्य पुण्य का भागी होता है।[२०] चौलुक्य राजा मूलराज ने ९९६ ई० मे सिद्धपुर मे अग्नि में प्रवेश करके प्राणत्याग किया था।[२१] १००२ ई० मे चदेल राजा धग ने प्रयाग में आत्महत्या की थी।[२२] इसी समय शाहीय राजा जयमाल ने महमूद गजनबी से पराजित होकर अग्नि मे प्रवेश किया था।[२३] कलचूरि राजा गागेय देव ने १०४० ई० मे अपनी सौ रानियो के साथ प्रयाग मे आत्म-हत्या की थी।[२४] १०६८ ई० मे चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम ने तुगभद्रा मे डूब कर[२५] पाल राजा रामपाल ने ११२० ई०[२६] मे और जयचन्द्र ने ११९४ ई० मे आत्महत्या की।[२७] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल के राजा कई बन्धन से मुक्त होने का बहाना करके आत्म हत्या करने मे ही पुण्य समझते थे। इन आत्म हत्याओ से समाज का क्या कल्याण हो सकता था। उपनिषदो के अनुसार तो आत्म-हत्या करना भीरुता है और कर्तव्य विमुख होना है इस-लिए हमे इसे नैतिक-पतन का द्योतक मानने मे लेशमात्र भी सन्देह नही है।

भ्रष्टाचार :

भागवत पुराण के अनुसार राजा को अमात्यों और चोरों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[२८] क्षेमेन्द्र के अनुसार भी राजा को ऐसे मन्त्रियों को तुरन्त पद से हटा देना चाहिए जो रिश्वत लें।[२९] लक्ष्मीधर ने लिखा है कि राजा को मन्त्रियों की गतिविधि की पूरी जानकारी रखनी चाहिए।[३०] कल्हण ने ऐसे अनेक मन्त्रियों के उदाहरण दिए हैं जिन्होंने अवैध ढंग से अपार-धन सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी।[३१] धनपाल ने भी दुष्ट अमात्यो का उल्लेख किया है।[३३] लक्ष्मीधर ने लिखा है कि राजा को कायस्थों के अत्याचार से बचना चाहिए।[३४] मानसोल्लास से[३५] और राजनीति-रत्नाकर में[३६] भी कायस्थो के विषय में ऐसे ही विचार व्यक्त किए गए हैं। कल्हण ने कायस्थों की तुलना दीमक से की है।[३७] क्षेमेन्द्र नेनर्ममाला में कायस्थों की बेईमानी, झूठे व्यवहार और उनकी रिश्वत लेने की आदत का स्पष्ट उल्लेख किया है।[३८] उनके अत्याचारो के कारण जनता को निश्चय ही बहुत कष्ट सहन करने पड़े होंगे।

व्यापारी व साहूकार :

भारत के व्यापारी अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध थे कि दूर-दूर से व्यापारी यहा व्यापार करने के लिए आते थे।[३९] किन्तु कल्हण के वर्णन से ज्ञात होता है कि कश्मीर मे अनेक साहूकार ऐसे थे कि ऊपर से तो अपनी धार्मिकता का दिखावा करते थे किन्तु वैसे धरोहर का माल उठाकर जाते थे। व्यापारियो को भी कल्हण ने धोखेबाज कहा है।[४०] हेमचन्द्र के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुजरात मे भी अनेक बेईमान व्यापारी थे।[४१] कथा-सरित्सागर मे भी बेईमान व्यापारियो की अनेक कथाएँ है।४ उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्यारहवी तथा बारहवी शताब्दी के भारतीय व्यापारी अपने उच्च नैतिक स्तर से बहुत गिर गए थे।

वेश्या :

पूर्व मध्यकालीन भारत मे प्राय: सभी नगरो में वेश्याएँ रहती थी। सन्ध्याकर नन्दी ने रामावती की वेश्याओ का विशद वर्णन किया है।[४३] धोयी के अनुसार लक्ष्मणसेन की राजधानी विजयपुर मे भी अनेक वेश्याएँ रहती थी।[४४] क्षेमेंद्र ने भी मथुरा और श्रावस्ती की वेश्याओ का उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र के वर्णन से ज्ञात होता है कि धनी व्यक्तियो के इकलौते पुत्र ऐसे नवयुवक जिनके पिताओ की मृत्यु हो गई थी, राजाओ के अमात्य, व्यापारियों के पुत्र, वैद्य, कामुक तपस्वी और राजकुमार, सगीतज्ञ विद्वान और शराबी सभी वेश्याओं के पास जाते थे।[४५] ये गणिकाएँ अनेक कलाओं में प्रवीण होती थी।[४६] कुमारपाल ने व्यभिचार, जुए और पशुहिंसा को रोकने के लिए अनेक प्रयत्न किए किंतु वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया।[४७] मानसो-ल्लास से स्पष्ट है कि राजा लोग जब कवियों और

विद्वानों की गोष्ठियों का आयोजन करते थे उस समय गणिकाओं को भी आमन्त्रित किया जाता था।[४७] इन्द्र-ध्वज के उत्सव के समय भी गणिका-निगम को निमन्त्रण भेजा जाता था।[४८] इससे स्पष्ट है कि समाज मे गणिकाओं का पर्याप्त आदर था और सन्त और जैन श्रावक भी उनके साथ सहवास करने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि नही समझते थे।[४९]

देवदासियां :

कुछ व्यक्ति अपनी कन्याओ को मन्दिरों को अर्पित करते थे। ये कन्याएं वेश्यावृत्ति से जो धन कमाती थी मन्दिरों के पुजारियो को देती थी। इनमें से कुछ देव-दासियां मन्दिरों में नृत्य करती थी। हम गुप्तोत्तर काल के विवेचन मे कह चुके हैं कि कुछ सच्चरित्र व्यक्तियो ने इस प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया किंतु राजाओ के विरोध के कारण वे अपने इस कार्य मे सफल नहीं हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में देवदासियों की सख्या बहुत बढ़ गई थी।

गुजरात के मन्दिरों मे ही २० हजार से अधिक देव-दासिया थी.[५०] बंगाल के द्युम्नेश्वर[५१] और ब्रह्मेश्वर[५२] मन्दिरों मे भी अनेक देवदासियां रहती थी। कटक के निकट शोभनेश्वर शिव मन्दिरो मे भी अनेक देवदासिया रहती थी।[५३] एक साधु द्वारा स्थापित बदायूं (उत्तर-प्रदेश) के एक शिव-मंदिर मे भी देवदासियां रहती थी।[५४] कश्मीर[५५] और सामनाथपुर[५६] के मदिरो में भी अनेक देवदासियां रहती थी। जोजल्लदेव चाहमान के दो अभि-लेखों (१०९० ई०) से स्पष्ट है कि उसने स्वय इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया और अपनी सन्तान को इस प्रथा को इस प्रथा को बन्द करने का आदेश दिया।[५७] इसका यह परिणाम हुआ कि धार्मिक उत्सवों के धार्मिक स्वरूप का इस काल में कोई महत्व न रहा। वे आमोद-प्रमोद और व्यभिचार के अवसर बन गए। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के नियतकालकांड में उदक-सेवा, महोत्सव का जो वर्णन दिया है उससे स्पष्ट है कि इस उत्सव के समय मनुष्य, स्त्री और बालक सभी निर्लज्ज होकर शराब पीकर अश्लील गाने गाते और सम्भवतः चाहे जिसके साथ सह-वास करना भी बुरा नहीं समझते थे।[५८] कौमुदी महोत्सव के समय भी नवयुवक और नवयुवतियाँ, गाते नाचते और अनेक प्रकार से मनोविनोद करते।[५९] मदनोत्सव के समय भी पुरुष और स्त्रियां काम-क्रीड़ाएं करते थे।[६०]

समाज में इतना नैतिक पतन होने का प्रमुख कारण संभवतः तंत्रयान की लोकप्रियता थी। तंत्रयान में सभोग ने धार्मिक कृत्य का स्वरूप ले लिया। बौद्ध तान्त्रिकों का विश्वास था कि बिना स्त्री-सभोग किए मोक्ष नही मिल सकता।[६१] वे माता, बहन वा अन्य सम्बन्धिनी स्त्री से भी सभोग करना अनुचित नही समझते थे। इस प्रकार की अनैतिक विचाराधारा के फैलने से जनसाधारण की शक्ति निश्चय ही बहुत कम हो गई होगी। ऐसे निःशक्त जनता विदेशियों के आक्रमणों का कैसे डटकर मुकाबला कर सकती थी।

कवियों का स्तर :

इस काल के कवि जैसे बिल्हण और जयदेव सहवास का विस्तृत विवरण देने मे लेशमात्र भी संकोच नही करते। बिल्हण का और चौरपंचशिका का वर्णन निश्चय ही व्यभिचार का वर्णन प्रतीत होता है।[६२] जयदेव के गीत गोविन्द मे भी मैथुनिक प्रेम का स्पष्ट विवरण मिलता है। लक्ष्मणसेन ने अपनी रतिक्रीडाओं का वर्णन अपने एक अभिलेख में किया है।[६३] इससे समाज के नैतिक पतन का अनुमान लगाया जा सकता है। कश्मीर के लेखकोंमें क्षेमेंद्र और दामोदर गुप्त का उल्लेख तो हम पहले ही कर चुके हैं।

मूर्ति-कला :

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में भिक्षुओं के चित्रण का उद्देश्य धार्मिक तथा दार्शनिक था। यह सृष्टि और पवित्र प्रेम का प्रतीक समझा जाता था। मनुष्य और स्त्री दोनो जीवन के लक्ष्य के पूरक समझे जाते थे। किंतु खजुराहो और पुरी के जगन्नाथ मदिर मे जो मैथुनक्रियाओं के दृश्य दिखलाए गए हैं वे निश्चय ही कामोत्तेजक हैं।[६४] भोज ने ग्रथ समरांगण सुधार मे लिखा है कि स्त्रियों को प्रेमी के साथ सहवास करते हुए चित्रित करना चाहिए।[६५] मंदिरों में पूजा करने के लिए हजारों आदमी प्रतिदिन जाते थे।

उपर्युक्त वर्णन से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि समाज में सच्चरित्र, परोपकारी और दानशील व्यक्ति

बिल्कुल नही थे। परन्तु ऐसे प्रतीत होता है कि ये व्यक्ति केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होने समाज के नैतिक स्तर को ऊचा करने के लिए कोई सक्रिय उपाय नही किए। इस काल मे ऐसा कोई कोई सत या महापुरुष नही हुआ जिसने जन-साधारण को संमार्ग पर चलने की प्रेरणा दी हो।

प्राचीन काल के भारतीयो का विश्वास था कि इस ससार मे प्रत्येक मनुष्य धर्म, अर्थ और काम तीन पुरुषार्थो को करके अपने जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। वे तीनो पुरुषार्थों को महत्व देत थे। किंतु उनका विश्वास था कि जीवन के सूत्रो का उपभोग और धन कमाना दोनो पुरुषार्थ धर्म की सीमा के अन्दर करके ही मनुष्य वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है। धर्म का विवेचन तीन रूपों मे किया गया है। साधारण धर्म, वर्णाश्रम धर्म और राज धर्म। प्राचीन भारत मे नैतिकता का विवेचन धर्म के अन्तर्गत ही किया गया है। नैतिकता का अर्थ था कि प्रत्येक व्यक्ति साधारण—धर्म के नियमो का अनुसरण करे वर्णाश्रम श्रम का पालन करके आध्यात्मिक उन्नति करे और समाज के प्रति अपने की पूर्ति करे। भारतीय दर्शन के अनुसार कर्तव्य-पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का फल इस जन्म मे या आगामी जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा। राजा का चरित्र आदर्श होना चाहिए। क्योकि प्रजा अधिकतर उसी का अनुसरण करती है। राजा भी धैर्य, क्षमा, सयम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियो पर नियन्त्रण, सत्य पालन, विद्याभ्यास, क्रोध न करना आदि साधारण धर्म का पालन करता था। प्रजा पालन और दुष्ट-निग्रह को राजा अपना विशेष धर्म समझते थे। समाज मे जो व्यक्ति साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म का पालन नही करते थे राजा उन्हें दण्ड देता था। गुप्तकालीन सम्राटो के यही आदर्श थे और वैदिक काल से गुप्तकाल तक समाज का नैतिक स्तर बहुत उच्च रहा किंतु गुप्तोत्तरकाल मे अधिकतर राजा भोग-विलासी होकर कर्तव्य विमुख हो गए और तांत्रिकों ने इन्द्रिय सुख को ही परम सुख मानकर मांस, मदिरा और स्त्री सभोग को परम लक्ष्य मान लिया। ऐसी दशा मे जन साधारण के नैतिक स्तर का पतन होना स्वाभाविक थी।

सन्दर्भ-सूची

१. कलचुरि नरेश युवराज का बिलहारी अभिलेख। उद्धृत डायनास्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द २ पृ० ७६०।
२. मेरूतुंग प्रबन्ध चितामणि अनु० टानी पृ० १८६।
३. वही पृ० १८३-१८५।
४. वही पृ० १५४ (सिंघी जैन ग्रथमाला) पृ० ६६।
५ राजतरगिणी ७; ३०४·३०, ५८४-८८६, ११४७-४८
६. कथासरित्सागर अनुवाद आनी १ : २८६ : २·४६०
७. हम्मीर महाकाव्य (इण्डियन एटिक्वरी) ८ : ८७६ पृ० ६२।
८. मानसोल्लास ४ : १० : ४२६-४४६।
९. वही ५, १०, ४८१ : तिलकमजरी १८, ६-६१, १२
१०. तिलकमजरी ६, ३ : ४१,, ४ : १६६, ५ : २११-२., २४५, १६, ३२४, २१।
११. द्वयाश्रम काव्य १, १३।
१२. कृत्यकल्पतरू नियतकालकांड पृ० ३३१।
१३. गृहस्थ रत्नाकर पृ० ६६४।
१४. नैषधचरित सर्ग, १६,६६।
१५. कथासरित्सागर कथा ५४, १७० आदि।
१६. राजतरगिणी ८, १८६६-६७।
१७. समयमातृका २, ८८।
१८. चौरपञ्चाशिका श्लोक, ६।
१९. ए० के० मजूमदार, चोलुक्यराज आफ गुजरात पृ० ३४४-३५५।
२०. कृत्यकल्पतरू, तीर्थ विवेचन पृ० २१, ११८-१३६, १४२-४६, २००।
२१. हेमचन्द्र, द्वयाश्रय काव्य ६ : १००-२०७, इण्डियन एटिक्वरी ४, १११।
२२. एपिग्राफिका इंडिका १, १४।
२३. डायनास्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द १, पृ० ८७।
२४. एपिग्राफिया इण्डिका २; ४, १२, २११, २१, ६४

२५. भक्तप्रसाद मजूमदार, सोश्यो इक्नोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया कलकत्ता १९६: पृ० ३६२।
२६. वही।
२७. प्रबंध चिंतामणि अनु० टानी पृ० १५८-१८६।
२८. भागवत पुराण ४, १४, १७।
२९. दशावतारचरि सर्ग १०।
३०. भक्तप्रसाद मजुमदार सोश्योइक्नोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता १८६० पृ० ३६२।
३१. राजतरंगिणी ७, ५४७, ५५५, ६६३-६६५।
३२. तिलकमंजरी पृ० ८५।
३३. कृत्यकल्पतरू राजधर्मकाड पृ० ८३।
३४. मानसोल्लास विंशति २, १४५-१५६।
३५. राजनीति रत्नाकर पृ० ण४।
३६. राजतरंगिणी ४; ४३, ११२।
३७. कलाविलास श्लोक ७, राजतरंगिणी ७; ४३, ११२।
३८. इलियट और डाडसन जिल्त १, पृ० ८८।
३९. राजतरंगिणी ८, १२८, १३१, १३३; ७०६-७१०।
४०. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित उद्धृत ए० के० मजुमदार पृ० ३३६।
४१. कथासरित्सागर जिल्द २, पृ० ३।
४२. रामचरित ३, ३७।
४३. भक्तभक्तप्रसाद मजुमदार सोश्योइक्नोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्यिा पृ० ३७०।
४४. समय मालिका ५, ६३, ६७।
४५. दामोदर गुप्त, कुट्टनीमतम् श्लोक १२३: १२५, ३४६, ३५५।
४६. भक्तप्रसाद मजुमदार वही पृ० ३७१।
४७. मानसोल्लास २, पृ० १५५।
४८. लक्ष्मीधर कृत्यकल्पतरू, राजधर्मं कां४ उद्धृत भक्तप्रसाद मजुमदार। वही पृ० ३७।
४९. जिनेश्वर सूरि, कथाकोशप्रकरण भूमिका वटस्थानक प्रकरण पृ० १५२-५३।
५०. रमेशचन्द्र मजुमदार, दि स्ट्रगल फार एम्पायर पृ० ५२-५३।
५१. एपिग्रा इंडिया जिल्द १ पृ० ३१० श्लोक ३०।
५२. जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, जिल्द १३ (६४७) पृ० ७१।
५३. जर्नल भडारकर ओरियंटल रिसर्च सोसायटी १९३१
५४. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द १ पृ० ६१-६६ श्लोक१७
५५. राजतरंगिणी ७; ८५८।
५६. प्रबंध चिंतामणि (सिंघी जैन ग्रंथमाला) पृ० १०८।
५७. एपिग्राफिया इंडिया ११ पृ० २६।
५८. कृत्यकल्पतरू, नियत काल कांड पृ० ३११-४१६।
५९. कृत्यकल्पतरू, राज धर्म कांड उद्धृत भक्तप्रसाद मजुदार, वही पृ० ३७५।
६०. कुट्टनीमतम् पृ० १९४।
६१. प्रोसिडिंग्स ग्राफ थर्ड ग्रोनियंटल कान्फ्रेंस मद्रास १९२५ पृ० १३०-४०।
६२. चौरपंचाशिका श्लोक ७ तथा ४६।
६३. जर्नल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल (न्यू सीरिज) ५; पृ० ४७३।
६४. रमेशचन्द्र मजुमदार : (सम्पादक) दि स्ट्रगल फार एम्पायर १ पृ० ६५३।
६५. समरागण सुधार—३४; ३३-३४।

(पृ० ८ का शेषांश)

व्रत तप सयम धरै अनेक,
समकित बिनु नही लहै विवेक।
जैसे कृषि करि सेवा करै,
मेघ बिना नहिं फल को धरै ॥५१॥
जे नर मुक्ति गए जिन कही,
आगे जै पुनि जैहैं सही।
अबै जात हैं भव्य अनेक,
ते समकित फल जानहु एक ॥५२॥
गणधर कहैं सुनो हे राय,
समकित महिमा अन्त न आय।
धर्म मूल मैं तुम सों कह्यो,
सुनि श्रेणिक दृढ़ कै श्रद्ध हो ॥५३॥

दोहा

रोम रोम मुनि हर्षियो; राजा श्रेणिक राय।
जनम सफल निज लेखियो, सुख दे गणधर पाय ॥५४॥
समकित मांहमा जानि कै, सकल कीर्ति मुनि राय।
पंडित शिरोमणि दास जिन, भव भव होउ सहाय ॥५५॥

इति श्री धर्मसार ग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति उपदेशात् पंडित शिरोमणिदास विरचिते सम्यक्त्व महिमा वर्णनो नाम द्वितीय सन्धिः समाप्त।

ग्राम पगारा की जैन प्रतिमाएं

☐ नरेश कुमार पाठक

पगारा मध्यप्रदेश के धार जिले में तहसील मनावर के अन्तर्गत एक छोटा सा ग्राम है। यह इन्दौर से लगभग १०० कि० मी० की दूरी पर अवस्थित है। इन्दौर से बस द्वारा धामनोद, धरमपुरी से होते हुए, पगारा पहुंचा जा सकता है। धरमपुरी से यह लगभग ८ कि० मी० उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है। इस गांव मे स्थित टीले का उत्खनन मध्य प्रदेश पुरातत्व एव सग्रहालय विभाग द्वारा १९८१-८२ में कराया गया जिसमें शुंगकाल से लेकर मुगल काल तक के अवशेष प्राप्त हुये। पगारा ग्राम एवं टीले के आसपास कई जैन प्रतिमाएं रखी हुई हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

जैन शासन देवी पद्मावती :—

हनुमान मन्दिर से प्राप्त चतुर्भुजी देवी पद्मावती सव्य ललितासन में बैठी हुई निर्मित है। देवी की भुजाओं में दक्षिणाध: क्रम से अक्षमाला सनालपद्म, सनालपद्म एव बायी नीचे की भुजा भग्न है। नीचे देवी के वाहन हस का अंकन है। दोनों पार्श्व मे परिवारिका प्रतिमा बनी हुई है। वितान में पद्मासन में जैन तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। देवी करण्ड मुकुट, चक्र कुंडल, उरोजों को स्पर्श करता हुआ हार, केयूर, वलय, मेखला, नूपर से अलंकृत है।

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएं :—

हनुमान मन्दिर के सामने से प्राप्त प्रथम प्रतिमा में पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में तीर्थंकर अंकित है। वक्ष पर श्रीवत्स का आलेख है। पार्श्व में सिर विहीन परिचारिका का त्रिभंग मुद्रा में अंकन है। मूर्ति का सिर व पादपीठ भग्न है।

दूसरी प्रतिमा में भी तीर्थंकर पद्मासन में अंकित है।

बावड़ी से प्राप्त तीर्थंकर का ऊर्ध्व भाग ही शेष है। प्रतिमा कुन्तलित केशराशि से युक्त सिर के पीछे प्रभामण्डल है, वितान में त्रिछत्र एवं चार पद्मासन में बैठी हुई जिन प्रतिमाओं का अंकन है।

जैन प्रतिमा पाद पीठ :

जैन प्रतिमा पादपीठ से सम्बन्धित शिल्पखण्ड तीन हनुमान मन्दिर से और एक-एक बावड़ी एवं गणपति मन्दिर से प्राप्त हुए हैं। इन पादपीठों के मध्य धर्मचक्र दोनों पार्श्व में हाथी एवं सिंह की आकृतियों का आलेखन है।

जैन प्रतिमा वितान :

जैन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित शिल्प कृतियों में ६ बावड़ी से तीन हनुमान मन्दिर एक-एक टीले एवं गणपति मन्दिर से प्राप्त हुए हैं। इन पर त्रिछत्र, दुन्दुभिक अभिषेक करते हुए हाथी, विद्याधर युगल, कायोत्सर्ग तथा पद्मासन में जिन प्रतिमा एवं मकर व्यालों का आलेखन है।

जैन शिल्प खण्ड :

जैन प्रतिमा शिल्प खण्ड से सम्बन्धित तीन कलाकृतियां बावड़ी से प्राप्त हुई हैं। प्रथम जैन प्रतिमा का दायाँ भाग है, जिसमें एक कायोत्सर्ग एवं एक पद्मासन में तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। दाएं पार्श्व में चामरधारी एवं मकर व्याल का अंकन है।

द्वितीय में दो जिन प्रतिमा एवं बायीं ओर एक चांवरधारी का शिल्पांकन है।

तृतीय पर पद्मासन की ध्यानमुद्रा में जिन प्रतिमाओं का आलेखन है।

—केन्द्रीय संग्रहालय,
गूजरी महल, ग्वालियर।

शान्तिनाथ पुराण में प्रतिबिंबित कथानक रूढ़ियां

□ कुमारी मृदुला
शोध छात्रा, बिजनौर

रूढ़ि या अभिप्राय वह छोटा और पहचान में आने वाला तत्व है जो यह बतलाता है कि किसी विशेष प्रकार की कथा के कौन-कौन से उपकरण दूसरे प्रकार की कथा में प्रयुक्त हुए हैं।[1]

कथा के क्षेत्र में अलौकिक और अमानवीय शक्तियों से सम्बन्धित लोक विश्वासों ने बहुत प्रभावित किया है। पुराण कथाओं या निजन्धरी आख्यानों की सृष्टि भी इन्हीं विश्वासों के आधार पर हुई है।[2]

शान्तिनाथ पुराण में इस श्रेणी की निम्नलिखित कथानक रूढ़ियां पाई जाती हैं—

(क) विद्या द्वारा नायक को धोखा देना—शान्तिनाथ पुराण के सप्त सर्ग में इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग मिलता है—"दीप्रशिख नामक विद्याधर आकाश से आकर स्वयंप्रभा से कहता है कि जब मैं अपने नगर जा रहा था तो मैंने एक स्त्री के रोने का शब्द सुना। उस स्त्री ने मुझे बताया कि ज्योतिर्वन मे विद्या से मेरे पति को छल कर यह अशनि घोष मुझे बलपूर्वक अपनी नगरी ले जा रहा है। अतः मेरे पति की रक्षा करो। मैं वहां से लौटा। बात यह हुई कि सुतारा का रूप धारण करने वाली विद्या कुक्कुट सर्प के विष के बहाने झूठ मूठ मर गई और उसे मृत जानकर राजा श्री विजय बहुत व्याकुल हुआ और उसे लेकर चितारूढ़ हो गया। इसी बीच अशनिघोष सुतारा को हर कर ले गया।[3]

विद्याधरों का संसर्ग—ग्रंथकार नायक को कठिनाइयों में डालकर किसी विद्याधर या अमानवीय शक्ति के साथ उसे सम्बद्ध दिखलाता है।[4]

शान्तिनाथ पुराण के सप्तम सर्ग में राजा श्री विजय को विद्याधर नरेश ने हेतिनिवारणी तथा विमोचिनी विद्या दीं, जिससे उसने अशनिघोष की बहुरूपिणी तथा भ्रामरी विद्या छेद दी।[5]

(ग) कथानकके प्रण की परीक्षा : सौधर्म इन्द्र की सभा में किसी व्यक्ति विशेष के व्रतों की प्रशंसा की जाती है। कोई ईर्ष्यालु देव उन प्रशंसात्मक बातों पर विश्वास नहीं करता और उसकी परीक्षा के लिए चल देता है।[6]

इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग 'असग' ने लघु कथा में लिया है। दशम सर्ग में कनकशान्ति जब एक वर्ष का प्रतिमायोग लेकर खड़े रहे, तबउनको देखकर तीव्र क्रोध से अतिवीर्य और महाबल असुर मुनिराज का घात करने के लिए प्रवृत्त हुए किन्तु रम्भा तथा तिलोत्तमा अप्सराओं द्वारा मुनि की पूजा करते देख कर शीघ्र ही भाग गए।[7]

(घ) तीर्थंकरों की महत्ता प्रकट करना—प्राकृत संस्कृत दोनों ही भाषाओ के जैन कथाकार कथाओं को चमत्कृत बनाने एवं तीर्थंकरों की महत्ता बतलाने के लिए देवों का कल्याणकों के समय आना दिखलाते हैं। जन्म के समय देव सुमेरु पर्वत पर तीर्थंकरों की महत्ता बतलाने के लिए जन्माभिषेक सम्पन्न करते हैं। वैराग्य होने पर लौकान्तिक देव आते हैं और तीर्थंकर वैराग्य की पुष्टि करते हैं। केवल ज्ञान होने पर समवशरण रचना देवों द्वारा होती है। निर्वाण प्राप्त होने पर अग्नि कुमार जाति के देव अग्नि संस्कार तथा वैमानिक देव निर्वाणोत्सव सम्पन्न करते हैं।[8]

शान्तिनाथ पुराण में तीर्थंकर शान्तिनाथ के जन्म के समय इन्द्रादिदेव सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक सम्पन्न करते हैं।[9] वैराग्य होने पर लौकान्तिक देव तीर्थंकर की वैराग्य पुष्टि करते हैं।[10] कैवल्य ज्ञान होने पर देवों द्वारा समवसरण निर्माण होता है।[11] निर्वाण प्राप्त होने पर

अग्नि कुमार देव तथा वैमानिक देव निर्वाणोत्सव सम्पन्न करते हैं।[११]

(च) तन्त्र, मन्त्र, जादू चमत्कार तथा औषधियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ—तन्त्र, मन्त्र के प्रति लोक मानस की पूरी आस्था है। योगी, सिद्ध, तान्त्रिक, मांत्रिक तथा चमत्कारी व्यक्तियों के प्रति मनुष्य सदा नतमस्तक रहता है। शान्तिनाथ पुराण में निम्न चमत्कार स्वरूप रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है—

(अ) औषधियों का चमत्कार—लोक मानस का विश्वास है कि औषधियों के प्रयोग से मृत प्राय व्यक्ति जीवित हो जाता है और स्वस्थ व्यक्ति तत्काल मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। शान्तिनाथ पुराण मे इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग कथा की दिशा मोड़ने में बड़ी कुशलता से किया गया है। षष्ठ सर्ग में पूर्व जन्म की बहिन के मुख से अपना पूर्वभव सुनकर सुमति मूर्च्छित हो जाती है और चन्दन, पखा आदि से उसकी मूर्च्छा दूर की जाती है।[१३]

शान्ति पुराण के अष्टम सर्ग मे विषलिप्त पुष्प को सूघ कर श्रीषेण, सत्यभामा तथा राजा की दोनो पत्नियो मर जाने का उल्लेख है।[१४]

(ब) मन्त्र शक्तियों का चमत्कार—लोक मानस अनादि काल से आश्चर्ययुक्त शक्तियों पर विश्वास करता चला आ रहा है। मन्त्र प्रधानतः चार प्रकार के होते हैं वेदमत्र, गुरुमंत्र, प्रार्थनामंत्र चमत्कारमत्र। चमत्कार मन्त्रो के मरण, मोहन और उच्चाटन ये तीन मुख्य भेद हैं।[१५] शान्तिनाथ पुराण के एकादश सर्ग में राजा अभय घोष की रानी कनकलता ने अपने प्रति राजा की विरक्ति तथा नव विवाहिता रानी के प्रति आसक्ति देखकर, नव विवाहिता को राजा से अलग करने के लिए मन्त्र-तन्त्र कराया और अपनी सखियों द्वारा राजा के लिए मन्त्र और धूप से संस्कार की गई कृत्रिम माला आमन्त्रित की, जिससे राजा के लिए उसी क्षण से अपनी नव विवाहिता के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न हो गया है।[१६]

(छ) रूप परिवर्तन—रूप परिवर्तन द्वारा लोगों को चमत्कृत करना और अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि करना एक प्रसिद्ध कथानक रूढ़ि है। शान्तिनाथ पुराण में अपराजित तथा अनन्तवीर्य का नर्तकी रूप बनाना, महाबल विद्या के द्वारा राजा अपराजित का सैकड़ों रूपों में आकाश में चले जाना और अशनि घोष का करोड़ों रूप बनाना।[१७] इसी प्रकार की रूढ़ि का परिचायक है।

(ज) लौकिक कथानक रूढ़ियाँ—प्रेम व्यापार को सम्पन्न करने के लिए लौकिक कथानक रूढ़ि का प्रयोग किया जाता है। यथा—किसी निर्जन स्थान में अचानक रूपवती रमणी का साक्षात्कार और प्रेमाभिक्य के कारण वियोग की स्थिति में आत्महत्या की विफल चेष्टा। शान्तिनाथ पुराण के षष्ठ सर्ग में सुमति की बहन उसके पूर्वभव कहती है 'एक बार अशोक वाटिका में क्रीड़ा करती हुई हम दीनो को देखकर त्रिपुरा के स्वामी वज्रांग विद्याधर ने हरण कर लिया।[१८]

दशम सर्ग मे 'विध्यसेन का पुत्र नलिन केतु सदा कामातुर रहता था, उसके पुत्र दत्त का विवाह प्रियंकरा नाम की स्त्री से हुआ। एक बार सखियों के साथ उसे उद्यान मे विहार करते देखकर नलिनकेतु की कामावस्था ने आश्रय दिया'।[१९]

(झ) परिस्थितियों की द्योतक रूढ़ियाँ—समस्त कथानक रूढ़ियां सामाजिक और सांस्कृति परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं। शान्तिनाथ पुराण में इस प्रकार की कथानक रूढ़ियां उपलब्ध हैं—

(अ) शरणागत की रक्षा—शान्तिनाथ पुराण के अष्टम सर्ग में राजा श्रीषेण के दरबार में सात्यकि की पुत्री सत्यभामा 'रक्षा करो' कहती हुई पहुंची तथा राजा ने उसे अपने अपने अन्तःपुर में शरण दी।[२०]

द्वादश सर्ग में मेघरथ के दरबार में बाज से कबूतर की रक्षा के लिए राजा द्वारा कबूतर को गोद में शरण देने का उल्लेख है।[२१]

(ञ) आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूढ़ियाँ—भारतीय संस्कृति का मूलाधार आत्मा का अस्तित्व है तथा जन्मान्तर और कर्मफल की अनिवार्यता में विश्वास करना भी आवश्यक है। शान्तिनाथ पुराण में इस वर्ग की कथा-

नक रूढ़ियां निम्नांकित हैं—

(१) संसार की कठिनाइयों से संतप्त नायक को केवली या गुरु की प्राप्ति—शान्तिनाथ पुराण के प्रत्येक सर्ग में ।

(२) आचार्य या गुरु से निर्वेद का कारण पूछना—शा० पु० ८।८०, १२।१३ ।

(३) पूर्व भवावली का कथन—शा० पु० ७।११, ८।१२७, ११।२२।

(४) निदान का कथन—८।१२१, ११।१५४।

(५) कथाक्रम में धर्म का स्वरूप और ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा—शा० पु० १२।१३, १२।६४।

(६) जाति स्मरण—पूर्वभव का स्मरण होने पर पात्र की जीवन धारा ही बदल जाती है। द्वादश सर्ग में कबूतर बाज का जाति स्मरण इसी सन्दर्भ में है। शा०पु० १२।४६

(७) जन्म जन्मान्तरों की शृंखला तथा एक जन्म के शत्रु का दूसरे जन्म मे भी शत्रु के रूप में रहना—जैसे घनरथ के दरबार में मुर्गों की कथा।

(८) सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण जानना—अष्टम सर्ग में अमित तेज द्वारा विजय केवली से सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण पूछना तथा उत्तर में भवावली का कथन शा० पु० ८।५-११२ ।

(९) असंभव बात का कारण जानना—एकादश सर्ग में रानी प्रियमित्रा द्वारा मेघरथ विद्याधर के पूर्वभव पूछना, ११।१२३।

(१०) वैराग्य प्राप्ति के निमित्तों की योजना—द्वादश सर्ग में सरीर की निःसारता का उपदेश सुनकर प्रियमित्रा की विरक्ति, १२।१२७।

(११) कैवल्य ज्ञान की उत्पत्ति के समय विचित्र आश्चर्यों के दर्शन—भगवान शान्तिनाथ के कैवल्य ज्ञान उत्पत्ति के समय पद्मयान का प्रकट होना, रत्न वृष्टि होना आदि आश्चर्य, १६।२१८-१६ ।

(१२) तपस्या के समय उपसर्ग तथा उनका जीतना—इसका व्यवहार शान्तिनाथ पुराण में सर्वत्र हुआ है।

□□

सन्दर्भ-सूची

१. डा० नेमीचन्द्र शास्त्री : हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २६१ ।
२. वही पृ० २६६ ।
३. असग : शान्तिनाथ पुराण ७।७१-७९
४. डा० नेमीचन्द्र शास्त्री : हरिभद्र के प्रा० क० सा० आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २६८ ।
५. शा० पु० ७।८८,९३ ।
६. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २६० ।
७. शा० पु० १०।१२४, १२९-१३१ ।
८. हरिभद्र के प्रा० क६ सा० आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २७२ ।
९. शा० पु० १३।१५२-१५५ ।
१०. वही १५।६, १५ ।
११. वही १५।३८-४१ ।
१२. वही १६।२१८-२२० ।
१३. शा० पु० ६।९६-९७ ।
१४. वही ८।१०० ।
१५. हरिभद्र के प्रा० क० सा० आलोचनात्मक परिशीलन पृष्ठ २७६ ।
१६. शा० पु० ११।४९-५१ ।
१७. शा० पु० २।४६, ५।६६, ६।९२ ।
१८. वही ६।८६ ।
१९. वही १०।४३ ।
२०. शा० पु० ११।२३ ।
२१. शा० पु० ४।५४ ।
२२. शा० पु० १२।४ ।

धर्मध्यान का स्वरूप एवं भेद

□ नरेन्द्र कुमार जैन सोरया एम० ए० शास्त्री

जैनधर्म मे ध्यान को तप का साधन माना गया है। ध्यान सर्वोत्कृष्ट तप है, ध्यान की अवस्था मे ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[1] उत्तम सहनन वाले का एक विषय मे चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।[2] आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद माने गये हैं।[3] इन चार ध्यानों में अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं[4] लेकिन इनमें भी धर्म्य ध्यान का विशेष महत्व है।

धर्म्यध्यान का स्वरूप—वस्तु का यथार्थ स्वरूप (स्वभाव) धर्म है।[5] वस्तु सत्तास्वरूप है। सत्ता पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है तथा वस्तु तथा गुण की अपेक्षा सदा ध्रुव है। इस प्रकार अपने धर्म से च्युत न होकर स्वभाव में आरूढ़ रहना धर्मध्यान कहलाता है।[6] तात्पर्य यह कि आत्मा चैतन्य स्वभावी है। अतः अपने स्वभाव में निश्चल रहना, जड़ स्वभाव के प्रति रागद्वेष न करना यह धर्म्यध्यान का लक्षण है।

धर्म्यध्यान के भेद—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये धर्म्यध्यान के चार भेद तत्वार्थसूत्र मे कहे गये हैं[7]।

आज्ञाविचय—उपदेश दाता के अभाव से, अपनी मन्दबुद्धि के उदय से तथा कर्म के वश जिसे स्वयं न जान सके ऐसे सूक्ष्म पदार्थों के विषय में जैसा सर्वज्ञ ने कहा वैसा ही है, क्योंकि जिनदेव वीतरागी हैं, वे अन्यथा कथन नहीं करते हैं, उस प्रकार पदार्थ का श्रद्धान कर अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय है। चित्त मे ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए कि जो सूत्र में कहा है, वह प्रत्यक्ष तो दिखाई देता नही है, अनुमान से भी नही जाना जाता है। अतः न जाने कैसा है, इस प्रकार का सन्देह कभी भी नहीं करना चाहिए। श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदाङ्ग और आम्नाय इन पर्यायवाचक शब्दों से बुद्धिमान पुरुष उस आगम को जानते हैं। जिनशासन की तत्वज्ञानियों को आराधना करना चाहिए। जिनशासन आदि अन्त से रहित, अनादिनिधन, अति सूक्ष्म चर्चा वाला, मोक्षमार्ग का उपदेश देने के कारण जीवन का हितकारी, अत्यन्त अथाह तथा अतिगम्भीर है। इस प्रकार तत्वज्ञानी जिनशासन की आज्ञा प्रमाण श्रद्धान, चिन्तन करता है, यही आज्ञाविचय है[8]।

अपाय विचय—जन्म, जरा मरण, रागद्वेष, मोह, रोग, विद्युत्पातादिरूप, आधिदैविक, देव मनुष्य तथा त्रियचों द्वारा उत्पन्न बाधारूप अधिभौतिक तथा मन की चिन्ता, सकल्प-विकल्प रूप आध्यात्मिक इन तीन तापत्रय से भरे हुए संसाररूपी समुद्र मे जो अनेक प्राणी कष्ट में पड़े हुए हैं उनके कष्ट दूर करने तथा रागादिक शत्रु के नाश के उपाय का चिन्तन करना चाहिए। इस अपायविचय नामक धर्मध्यान में अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से यह प्राणी कैसे रहित हो ऐसा चिन्तन करना चाहिए। अपाय अभाव को कहते हैं, मिथ्यादृष्टियों के मार्ग के अभाव का चिन्तन करना अपायविचय है।[9]

विपाक विचय—शुभ और अशुभ भेदों मे विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसार रूपी आवर्त की विचित्रता चिन्तवन् करने वाले मुनि के जो ध्यान होता है उसे आगम के जानने वाले गणधरादिदेव विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान मानते हैं। जैन शास्त्रों में कर्मों का उदय दो प्रकार का माना गया है। जिस प्रकार किसी एक वृक्ष के फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं और दूसरे किन्हीं कृत्रिम उपायों से पकाये जाते हैं, उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं। मूल और उत्तर प्रकृतियों के बन्ध तथा सत्ता आदि का आश्रय लेकर द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्मों का उदय अनेक प्रकार का होता है।[१०] तात्पर्य यह है कि शुभकर्म के उदय से शुभद्रव्य, स्वर्गादिक शुभक्षेत्र, शीत-उष्ण की बाधारहित शुभकाल तथा संक्लेशरहित प्रसन्नभाव होते हैं। अशुभकर्म कर्म के उदय से इनके उल्टे अशुभ द्रव्य नरकादि क्षेत्र, शीत, आतपयुक्त काल तथा क्लेश रूप मलिन भाव होते हैं। दोनों कर्मों के विवेक का वेत्ता विवेकी जीव इनके प्रति हर्ष विषाद नही करता है। वह कर्म के उदय के अभाव हेतु उद्यम करता है। मोक्षाभिलाषी मुनियों के मोक्ष के उपायभूत इन विपाकविचय नाम के धर्म्यध्यान का अवश्य चिन्तन करना चाहिए।[११]

संस्थान विचय—लोक के आकार का बार बार चिन्तवन करना तथा लोक के अन्तर्गत रहने वाले जीव, अजीव आदि तत्वों का विचार करना संस्थान विचय नाम का धर्म्यध्यान है। संस्थान विचय धर्म्यध्यान को प्राप्त हुआ मुनि तीनों लोकों की रचना के साथ-साथ द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर, विमानवासी, भवनवासी तथा व्यंतर-देवों के रहने के स्थान और नरकों की भूमियों आदि पदार्थों का भी शास्त्रानुसार चिन्तन करे। इसके सिवाय उस लोक मे रहने वाले संसारी और मुक्त इस प्रकार जीव के दो भेद, जीव का कर्तापन, भोक्तापन तथा दर्शनादि गुणों का भी ध्यान करे। अनेक दुःखरूप यह संसाररूपी समुद्र सम्यग्ज्ञानरूपी नाव से तैरने योग्य है। अथवा इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है? नयों के सैकड़ों भङ्गो से भरा हुआ जो कुछ आगम का विस्तार है वह सब अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए ध्यान करने योग्य है।[१२] यह धर्म्यध्यान अप्रम। अवस्था का आलम्बन कर अन्तर्मुहूर्त तक तक स्थित रहता है औ' प्रमादरहित (सप्तम गुण-स्थानवर्ती) जीवों में ही अतिशय उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। इसके सिवाय अतिशय शुद्धि को धारण करने वाला और पीत पद्म और शुक्ल ऐसी तीन शुभलेश्याओं के बल से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शन से सहित चौथे गुणस्थान में तथा शेष के पांचवें और छठे गुणस्थान में भी होता है। यह धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावों को स्वाधीन कर बढ़ता है। इसका फल भी बहुत उत्तम होता है तथा अतिशय बुद्धिमान लोग भी इसे धारण करते हैं। वस्तुओं के धर्म का अनुयायी होने के कारण जिसे धर्म्यध्यान ऐसा नाम प्राप्त हुआ है और जिसमें ध्यान करने योग्य पदार्थ का ऊपर विस्तार से वर्णन किया गया है ऐसे इस धर्म्यध्यान का बार-बार चिन्तवन करना चाहिए।[१३] अंगों की स्थिरता, मुख की प्रसन्नता होना, दृष्टि का सौम्य होना आदि धर्म्यध्यान के बाह्यचिह्न तथा अनुप्रेक्षायें तथा पहले कही हुई अनेक प्रकार की शुभ भावनायें उसके आन्तरिक चिन्ह हैं।[१४]

आज्ञा आदि के निमित्त से सतत चिन्तन करने को धर्म्यध्यान कहा गया है।[१५] अशुभ कर्मों की अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ स्वर्ग आदि का सुख प्राप्त होना यह सब इस उत्तम धर्म्यध्यान का फल है। अथवा स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यान का फल कहा जाता है। इस धर्म्यध्यान से स्वर्ग की प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परमपद मोक्ष की प्राप्ति परम्परा से होती है।[१६] जो कर्म ईंधन को जलाने के लिए अग्नि का काम करती है समस्त तपों का सार ध्यान तप है।[१७] और यही आत्मिक सुख देने वाला है। इस प्रकार जैनदर्शन में धर्म्यध्यान का महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय स्थान है।

लखनऊ

सन्दर्भ-सूची

१. डा० हुकमचन्द भारिल्ल, धर्म के दशलक्षण।

२. उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान मान्त मुहूर्तात्, तत्वार्थसूत्र नवम् अध्याय सूत्र २७।

३. आर्तरौद्रधर्म्य शुक्लानि तत्वार्थ सूत्र नवम् अध्याय सूत्र नं० २८।

४. सर्वार्थसिद्धि पृ० ३४४।

५. वत्थु सहावो धम्मो—आचार्य कुन्दकुन्द।

६. तत्वानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते। धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादि त्रयात्मकम्। आदिपु. २१।१३३

७. आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्। त. सू. ९।३६ तदाज्ञापाय संस्थान विपाकविचयात्मकम्। चतुर्विकल्प माम्नातं ध्यानमाम्नाय वेदिभिः। आदिपु० २१।१३४

८. आदिपुराण २१।१३४-१४०

९. आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः। तापत्रयादि जन्माब्धिगतापाय विचिन्तनम्। तदुपायप्रतीकारचित्रोपायानुचिन्तनम्। अत्रैवान्तर्गतिध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणम्॥ जिनसेन : आदिपुराण २१।१४१-१४२

१०. वही २१।१४३-४६

११. वहीं २।१४७

१२. जिनसेन : आदिपुराण २१।१४८-५४

१३. वही २१।१५५-५८

१४. वही २१।१५९-६१

१५. सर्वार्थसिद्धि नवमोऽध्याय : पृ० ३४७

१६. आदिपुराण २१।१६२-६३

१७. धर्म के दशलक्षण : हुकमचन्द भारिल्ल पृ० ११४

कुबेर प्रिय सेठ की कथा

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश और उसमें पुंडरीकिणी नाम की एक नगरी है। वहां का राजा गुणपाल और उसकी एक रानी कुबेरश्री से वसुपाल और श्रीपाल नाम के दो पुत्र थे। रानी कुबेरश्री का भाई कुबेरप्रिय था, जो रूप में कामदेव के समान और चरम-शरीरी था। उक्त राजा के एक दूसरी रानी सत्यवती भी थी, जिसका भाई चपलगति राजा का मंत्री था। एक दिन राजा ने एक अपूर्व नाटक देखा और बहुत ही प्रसन्न हुआ। पश्चात् अपने यहां रहने वाली उत्पलनेत्रा नाम की वेश्या से उसने कहा कि ऐसा अच्छा नाटक तो मेरे ही राज्य में ही हुआ है। तब उस वेश्या ने कहा—महाराज, यह कुछ भारी कौतुक नहीं है, अपूर्व कौतुक तो मैंने देखा है, जो आप से निवेदन करती हूं। एक दिन आपकी सभा में बैठे हुए कुबेर प्रिय सेठ को देखकर मैं कामदेव की पीड़ा से अत्यन्त व्याकुल हुई। उसी समय एक अच्छी दूती उक्त सेठ के पास भेजी। उस दूती ने जाकर मेरा यह सब हाल सेठ से कहा। परन्तु सेठ ने उत्तर दिया मेरे स्वदार-सन्तोष (परस्त्री त्याग) व्रत है। यह सुनकर मैं लाचार हो गई। एक बार चतुर्दशी के दिन श्मशानभूमि मे वह सेठ योग धारण करके बैठा था। मैं उसको वैसी ही अवस्था में अपने घर ले आई और सोने के महल में ले जाकर उसे अनेक चेष्टाएं दिखायीं, परन्तु उस सेठ का चित्त चलायमान न कर सकी। आखिर उसको उसी श्मशान भूमि में पहुंचवा दिया। और मैंने उसी समय से ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया। अतः हे राजन्, मैं वेश्या होकर भी उस सेठ का चित्त चलायमान न कर सकी, यह बड़ा कौतुक और आश्चर्य है। तब राजा ने कहा—उस सेठ की सब ही सन्तान ऐसी ही शील पालने वाली हैं, कुशील नहीं हैं।

उत्पलनेत्रा ने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है, यह किसी को ज्ञात नहीं था, इसलिए एक दिन नगर के कोतवाल का पुत्र उसके घर गया और बोला—शृंगार विलेपनादि करो। परन्तु इतने में ही मन्त्री का पुत्र आ पहुंचा। तब वेश्या ने उसके भय से कोतवाल के पुत्र को किसी सन्दूक मे बन्द कर दिया और मन्त्री पुत्र के साथ बातचीत करने लगी। इतने में ही चपलगति मन्त्री आया। उसको आते हुए देख कर उसके डर से उस मन्त्री-पुत्र को भी वेश्या ने उसी सन्दूक मे बन्द कर दिया। चपलगति ने आकर कहा—हे उत्पलनेत्रे, तू शृंगारादि कर लेना, मैं शाम को बहुत-सा द्रव्य लेकर आऊँगा। उत्पलनेत्रा ने कहा—चपलगति, आप जब अपनी बहिन सत्यवती के विवाह मे मेरा हार ले गए थे, तब आपने कहा था कि सत्यवती के विवाह के बाद तेरा हार दे देंगे। सो अब वह हार दे दीजिए। चपलगति ने कहा—अच्छा, तेरा हार दे देंगे। तब उस वेश्या ने कहा—हे सन्दूक में बैठे हुए देवो! इस विषय में तुम मेरे साक्षी हो।

दूसरे दिन राजा की सभा मे जाकर उत्पलनेत्रा ने चपलगति से हार मांगा। चपलगति ने कहा—कहां का हार? मैं नहीं जानता, तू ने हार किसको दिया था? वेश्या ने कहा—यदि खबर ही नहीं है तो कल दिन क्यों कहा था कि तेरा हार दे दूंगा? मन्त्री ने कहा—नहीं, मैंने ऐसा कभी नहीं कहा। तब राजा ने कहा—उत्पलनेत्रे, तेरा इस विषय में कोई साक्षी भी है? उसने कहा—हां महाराज, है। राजा ने कहा—तो उसको बुलाओ, तभी निर्णय होगा। राजा के कहने से सन्दूक मंगाया गया। तब वेश्या ने कहा—हे सन्दूक में बैठे हुए देवो, सत्य कहो कि कल चपलगति ने मुझे हार देने को कहा था या नहीं? तब सन्दूक में बैठे उन दोनों ने कह दिया—हां! अवश्य ही कहा था। इस कौतुक को देखकर राजा ने सन्दूक खुलवाकर देखा तो उसमें मन्त्री-पुत्र और कोतवाल-पुत्र निकले। उन्हें निकलते हुए देख सब सभा के लोगों ने बड़ी हँसी की, जिससे दोनों लज्जित हुए। राजा को इस

कुतूहल से वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने सत्यवती के पास सेवक भेजा और कि तेरे विवाह में चपलगति उत्पलनेत्रा का हार लाया था वह दे दे। सत्यवती ने वह हार सेवक को दे दिया। सेवक ने राजा को और उसने उस वेश्या को दे दिया। पश्चात् राजा ने क्रोध के वशीभूत होकर चपलगति की जिव्हा (जीभ) काटने की आज्ञा दी, परन्तु कुवेरप्रिय ने राजा से निवेदन करके चपलगति की जीभ नहीं काटने दी। राजा ने कुवेरप्रिय को मन्त्री पद दिया। कुवेरप्रिय मन्त्री होने से चपलगति को ईर्षा और क्रोध उत्पन्न हुआ तथा सत्यवती ने हार दे दिया, इससे उस पर भी वह क्रोध करने लगा और रात दिन इन दोनों का बुरा विचारने लगा।

एक दिन यह चपलगति विमलजला नदी पर क्रीड़ा करने के लिए गया। बैलों के झुड में वहां उसने एक सुंदर मुद्रिका (अंगूठी) देखी और उठा ली। इतने मे ही व्याकुल चित्त चितागति नाम का विद्याधर वहां आकर इधर-उधर कुछ ढूंढने लगा। तब चपलगति ने उससे पूछा—भाई, इधर-उधर क्या देखते हो? विद्याधर ने कहा—मेरी मुद्रिका खो गई है, उसको ढूंढ रहा हूं। यह सुनकर चपलगति ने उसे मुद्रिका दे दी। विद्याधर को सन्तोष हुआ। उसने चपलगति से पूछा—आप कौन हैं। चपलगति ने कहा – मैं कुवेरप्रिय का देवपूजक (सेवक) हूं। विद्याधर ने कहा—तुम कुवेरप्रिय के सेवक हो तो कुवेरप्रिय मेरा मित्र है, उसको यह मुद्रिका दे देना। यह काममुद्रिका है, इसके प्रताप से मनचाहा रूप बन जाता है। मैं उससे फिर कभी यह मुद्रिका वापिस ले लूंगा। ऐसा कहकर वह मुद्रिका दे विद्याधर तो चला गया और चपलगति उसे लेकर वहां से लौटा। घर आकर उसने अपने भाई पृथु को सिखाया कि चतुर्दशी के सायकाल के समय तू इस मुद्रिका को पहन कर सत्यवती के घर जाना और जब वह तुझे आसन पर बिठा दे, तब अपने मन में ऐसा विचार करके कि "मेरा रूप कुवेरप्रिय का सा हो जाय" इस अंगूठी को अपने चारों तरफ फिराना, तब तेरा रूप कुवेरप्रिय का सा हो जायगा। फिर सत्यवती के पास ही कामचेष्टा भ्रूविक्षेपादिक करना। उस समय मैं राजा के पास रहूंगा, इसलिए अपना काम बन जाएगा। चतुर्दशी के दिन पृथु ने ऐसा ही किया और चपलगति ने उसी समय राजा से कहा—महाराज, इस समय कुवेरप्रिय सत्यवती के साथ काम-क्रीड़ा करता है। मैंने पहले यह बात कई बार सुनी थी, परन्तु वह आज प्रत्यक्ष हो गई।

राजा ने कहा—नहीं, कुवेरप्रिय ने आज उपवास किया है, उसकी यह बात सम्भव नहीं हो सकती। चपलगति ने यह कहकर कि महाराज, प्रत्यक्ष में क्या सन्देह है? चलिए, स्वयं देख लीजिए। राजा को ले जाकर अपने भाई को कुवेरप्रिय के रूप में दिखला दिया और कहा—महाराज, इन दोनों को दण्ड मिलना चाहिए। राजा ने कहा—अच्छा तुम्हीं इसका दण्ड दो। चपलगति ने "बहुत अच्छा।" कहकर कुवेरप्रिय का सिर काटने का हुक्म दिया और सत्यवती की नाक काटने का। महा न्यायवान् कुवेरप्रिय को कल सबेरे मारूंगा, और सत्यवती की नाक काटूंगा, ऐसा विचार कर अपने भाई को लेकर वह अपने घर गया और भाई को घर छोड़कर श्मशान भूमि से कुवेरप्रिय को उठा लाया। नगरवासियों को यह सुनकर बड़ा क्षोभ हुआ। सेठ कुवेरप्रिय ने प्रतिज्ञा की कि जो मैं इस उपसर्ग से बचूंगा, तो पाणिपात्र में भोजन करूंगा। तथा ऐसी ही प्रतिज्ञा सत्यवती ने की कि बचूंगी तो आर्यिका हो जाऊंगी। और जो इष्टदेव की पूजा करने का घर था, वह उसमें कायोत्सर्ग धारण कर बैठ गई। राजा दुःख से व्याकुल होकर अपनी शय्या पर पड़ रहा। सबेरे ही चपलगति कुवेरप्रिय को केश पकड़ कर श्मशान भूमि में लाया और वहां उसके मारने के लिए चाण्डाल को बुलाया। पश्चात् चाण्डाल को तलवार देकर आज्ञा दी—इसका काम तमाम कर दो। जिस समय उसके मारने की आज्ञा हुई, उसी समय उसके परम शील के प्रभाव से देवों के तथा असुरों के आसन कम्पायमान हुए और कुवधिज्ञान से कुवेरप्रिय पर उपसर्ग जानकर वे शीघ्र ही वहां आए। इधर कुवेरप्रिय का यह हाल देखकर समस्त नगर के लोग हाहाकार करने लगे और "कुवेरप्रिय! हाय, यह तुम्हारा यह क्या हाल हुआ?" ऐसा चिल्लाते हुए दुःखी होकर उसकी ओर देखने लगे। चांडाल ने यह कह कर कि 'अब कुवेरप्रिय, अपने इष्ट-

(शेष पृ० आवरण ३ पर)

जैन होने में बाधक : मूर्च्छा-भाव-परिग्रह :

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली।

सामाजिक प्राणी और मानव बनने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का स्थूल त्याग किया जाता है और जैन या जिन बनने के लिए परिग्रह का त्याग करना होता है।

कहते हैं सत्य बड़ा कड़वा अमृत है। जो इसे हिम्मत करके एक बार पी लेता है वह अमर हो जाता है और जो इसे गिरा देता है वह सदा पछताता है। हम एक ऐसा सत्य कहने जा रहे हैं जिसे जन-मानस जानता है—मानता नहीं और यदि मानता है तो उस सत्य का अनुगमन नहीं करता। उस दिन एक सज्जन मेरे हस्ताक्षर लेने आ गए। दूर से आए थे, कह रहे थे—आपके सुलझे और निर्भीक विचारों को 'अनेकान्त' में पढ़ता रहता हूं। कारणवश दिल्ली आना हुआ। सोचा आपके दर्शन करता चलू। उनके आग्रहवश मैंने हस्ताक्षर दे दिए। वे पढ़कर बोले—आप तो जैन हैं, आपने अपने को जैन नहीं लिखा—केवल पद्मचन्द्र शास्त्री लिखा है। मैंने कहा—हां, मैं ऐसा ही लिखता हूं। इससे आप ऐसा न समझें कि मैं इस समुदाय का नहीं। मैं तो इसी में पैदा हुआ हूं, बढ़ा भी इसी में हुआ हूं और चाहता हूं मरूँ भी यहीं। काश ! लोग मुझे जैन होकर मरने दें ! यानी—**'ये तन जावे तो जावे, मुझे जैन-धर्म मिल जावे'**। मैंने कहा—पर अभी मुझे जैन या जिन बनने के लिए क्या कुछ, और कितना करना पड़ेगा ? यह मैं नहीं जानता। हां, इतना अवश्य है कि यदि मैं मूर्च्छा—परिग्रह को कृश कर सकूं तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जब मैं अपने को जैन लिख सकूं।

'जिन' और 'जैन' ये दोनों शब्द आपस में घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। जिन्होंने कर्मों पर विजय पाई हो, वे 'जिन' होते हैं और 'जिन' का धर्म 'जैन' होता है। मुख्यता धर्म के लक्षण-प्रसंग में **'वत्थु सहावो धम्मो'** और **'यः सत्वान् संसार दुःखतः उद्धृत्य उत्तमे (मोक्षे) सुखे धरति सः धर्मः'** ये दो लक्षण देखने में आते हैं। जहां तक प्रथम लक्षण का सम्बन्ध है, वहाँ हमें कुछ नहीं कहना। क्योंकि वहाँ तो 'जिन' का अपना स्वभाव ही 'जैन' कहलाएगा। जैसे अग्नि का अपना अस्तित्व है वह उसकेअपने धर्म उष्णत्व से है। न तो अग्नि उष्णत्व को छोड़ेगी और न ही उष्णत्व अग्नि को छोड़ेगा। ऐसे ही जिनका यह धर्म 'जैन' है, वे 'जिन' भी इसे न छोड़ेंगे और ना जैन ही 'जिन को छोड़ेगा। मोह रागादि परिग्रह को छोड़ने से "जिन' हैं और उनका धर्म 'जैन' उन्हीं में रहेगा। और जो 'जैन' बनता जाएगा उसका धर्म जैन होता जाएगा। यह बात बड़ी ऊँची और अध्यात्म की है अतः हम इसे यहीं छोड़ते हैं। प्रसंग में तो जैन से हमारा आशय 'जिन' द्वारा प्रसारित उस धर्म से है जो जीवों को संसार के दु:खों से छुड़ाकर 'जिन' बना सके—मोक्ष सुख दिला सके। क्योंकि इस धर्म का माहात्म्य ही ऐसा है कि जो इसे धारण करता है उसी को 'जैन' या 'जिन' बना देता है कहा भी है—**'जो अधीन को आप समान, करै न सो निन्दित धनवान।'**

वर्तमान में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली-परिपाटी प्रचलित है, यदि उसमें सुधार आ जाय तो लौकिक-मानव बना जा सकता है। प्राचीन समय की सुघरी परिपाटी ही आज तक समाज और देश को एक सूत्र में बांधे रख सकी है। निःसन्देह उक्त नियमों के बिना न तो समाज सुरक्षित रह पाता और ना ही देश का उद्धार हुआ होता। लौकिक सुख-शान्ति भी इन्हीं नियमों पर आधारित हैं। इसीलिए भारत के विभिन्न मत-मतान्तरों ने इन पर ही विशेष बल दिया। ताकि मानव, मानव बन सके और लौकिक, सुख-शान्ति से ओत-प्रोत रह सके। पर जैन तीर्थंकरों की दृष्टि पार-

लौकिक सुख तक भी पहुंची। उन्होंने जीवों को शाश्वत-परलोक—मोक्ष का मार्ग भी दर्शाया। उनका बताया मार्ग ऐसा है जिससे दोनों लोक सध सकते हैं। वह मार्ग है—मानव से 'जैन और 'जिन बनने का पूर्ण परिग्रह के छोड़ने का अर्थात् जब स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का त्याग किया जाता है तब मानव बना जाता है और जब परिग्रह की सीमा बांधी या परिग्रह का त्याग किया जाता है तब 'जैन' बना जाता है। जैनियों में जो दश-धर्मों का वर्णन है उनमें भी पूर्ण-अपरिग्रह धर्म ही साध्य है, शेष धर्म उस अपरिग्रह के पूरक ही हैं। कहा भी है —

'क्षमा मार्दव आर्जव भाव हैं, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग 'उपाय' हैं।
आकिंचन ब्रह्मचर्य धर्म दश सार हैं ..।'

जब सत्य, शौच, संयम तप और त्यागरूपी उपायों से मन को क्षमा, मार्दव, आर्जव, रूप भावों में ढाला जाता है तब आकिंचन्य (पूर्ण अपरिग्रह) धर्म प्राप्त होता है और तभी आत्मा—ब्रह्म (आत्मा) में लीन (तन्मय) होता है। यह आत्मा में लीनता (तद्रूपता) का होना ही जिन या जैन का रूप है। और इसे प्राप्त करने के लिए आस्रव से निर्वृत्ति पाकर संवर-निर्जरा के उपाय करने पड़ते हैं और वे सभी उपाय प्रवृत्ति रूप न होकर निवृत्ति रूप (जैसा कि ध्यान में होता है) ही होते हैं। किन्हीं अंशों मे हम आंशिक निवृत्ति करने वालों को भी 'जिन' या जैन कह सकते है। कहा भी है—

'जिणा दुविहा सयलदेजिणभेएण। खविय घाइ-कम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंत सिद्धा अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देस-जिणा तिव्व कषायेंदिय-मोहविजयादो।' —धवला ६, ४, १, १, १०।

जिन दो प्रकार के हैं—सकलजिन और देशजिन। घातियाकर्मों का क्षय करने वाले अरहंतों और सर्वकर्म-रहित सिद्धो को सकलजिन कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियों की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को देश-जिन कहा जाता है। उक्त गुणों की तर-तमता मे कथंचित देश-त्यागी—परिग्रह को कृश करने वाले श्रावकों को भी जैन मान सकते हैं, क्यो कि—मोक्षरूप उत्तम सुख मिलना परिग्रह कृश करने पर ही निर्भर है, फिर चाहे वह—परिग्रह अन्तरंग हो या बहिरंग या हिंसादि पापों रूप हो—सभी तो परिग्रह हैं।

ये तो जिन की देन है, जो उन्होंने वस्तुतत्त्व को बिना किसी भेद-भाव के उजागर किया और अपरिग्रह को सिरमौर रखा और अहिंसा आदि सभी में इस अपरि-ग्रह को हेतु बताया है। पिछले दिनों हमें श्री खशालचन्द्र गोरावाला का पत्र मिला है। पत्र का सारांश यह है कि चारों कषायों और पांचों पापों मे कार्य कारण की व्यवस्था उल्टी है। कार्य-निर्देश पहिले और कारण-निर्देश अन्त में है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में अन्त की लोभ कषाय पूर्व की कषायों में कारण है। लोभ (चाहे वह किसी लक्ष्य में हो) के होने पर ही क्रोध, मान या मायाचार की प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापो मे भी अन्त का परिग्रह पाप पूर्व के पापो मे मूल कारण है। परिग्रह (चाहे वह किसी प्रकार का हो) के होने पर ही हिंसा, झूठ, चोरी या कुशील की प्रवृत्ति होगी। ये तो हम पहिले भी लिख चुके हैं कि—'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गः··· ममेदमिति, हि सति संकल्पे रक्षणादय सजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्य भाविनी तदर्थमनृत जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुनं च कर्मणि प्रतिपद्यते।'—त० रा० वा० ७।१७।५ सर्व दोष परिग्रह मूलक हैं। यह मेरा है, ऐसे सकल्प में रक्षण आदि होते हैं उनमें हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है, आदि :

आचार्यों ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। और यहाँ मूर्च्छा से तात्पर्य १४ प्रकार के परिग्रह से है। मूर्च्छा ममत्व भाव को कहते हैं। और ममत्व सब परिग्रहों में मूल है। अरति, शोक, भयादि भी इसी से होते हैं। इसी-लिए ममत्व का परिहार करना चाहिए। राग की मुख्यता के कारण ही जिन भगवान को भी वीत द्वेष न कह कर वीतरागी कहा गया है। यदि प्राणी का राग बीत जाय—मूर्च्छा भाव बीत जाय तो वह 'जिन' हो जाय। जिन-मार्ग में परिग्रह को सर्व पापों का मूल बताया गया है और परिग्रह त्यागी को ही 'जिन और जैन' का दर्जा दिया गया है।

कुछ लोग रागादि को हिंसा और रागादि के अभाव को अहिंसा माने बैठे हैं। और हिंसा व परिग्रह मे भेद नहीं कर रहे। ऐसे लोगों का कहना है कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

ऐसे लोगों को सूक्ष्म दृष्टि से कार्य-कारण की व्यवस्था को देखना चाहिए। आचार्य ने यहां कारणरूप रागादिक में कार्य-रूप हिंसा का उपचार किया है। रागादिक स्वय हिंसा नही हैं अपितु हिंसा में कारण हैं। इसीलिए आगे चलकर इन्हीं आचार्य ने कहा है—

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निवधना भवति पुंसः।'
'आरम्भकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।'
'यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।'
'यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणाम्।'
—पु०षा०

हिंसा पर-वस्तु (रागादि) के कारणो से होती है हिंसा कषाय भावो के अनुसार होती है। कषाय के योग से द्रव्य-भावरूप प्राणो का घात होता है। और सकषाय-जीव हिंसक (हिंसा से करने वाला) होता है।

पिछले दिनों हमने जैन बनने मे हेतु-भूत—ध्यान के प्रसंग से अपरिग्रह—पूर्णनिवृत्ति को दिखाया था। जो लोग किसी विन्दु पर मन को लगाने की बात करते हैं उसमें भी आस्रव भाव होता है फिर जो दीर्घ संसारी हैं, ऐसे लोगों ने तो ध्यान-प्रचार के बहाने आज देश-विदेशों में भी काफी हलचल मचा रखी है, जगह-जगह ध्यान-केन्द्रों की स्थापना की है। वहां शान्ति के इच्छुक जन-साधारण मनः-शान्ति हेतु जाते हैं। पर वहां वे, वह कुछ नहीं पा सकते जो उन्हें जिन. जैनी या अपरिग्रही होने पर—सब ओर से मन हटाने पर मिल सकता है। यहां आत्मा को आत्म-दर्शन मिलेगा और वहां उन्हें परिग्रहरूपी पर-विकारी भाव मिलेंगे। फिर चाहे वे विकारी भाव व्यवहारी दृष्टि से—कर्मशृंखलारूप में 'शुभ' नाम से ही प्रसिद्ध क्यों न हों। वास्तव में तो वे बंधरूप होने से अशुभ ही हैं; कहा भी है—

'कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होइ सुसीलं जे संसारं पवेसेदि॥'
—समयसार ४।१।१४५

अशुभ कर्म कुशील—बुरा है और शुभ कर्म सुशील—अच्छा है, ऐसा तुम जानते हो; किन्तु जो कर्म जीव को संसार मे प्रवेश कराता है, वह किस प्रकार सुशील—अच्छा हो सकता है? अर्थात् अच्छा नहीं हो सकता।

उक्त प्रसग से तात्पर्य ऐसा ही है कि यदि जीव परि-ग्रह—आस्रव जनक क्रिया को त्याग कर सवर निर्जरा में प्रयत्नशील हो—सभी प्रकार विकल्पो को छोड़कर स्व मे आवे, तो इमे जिन या जैन बनने मे देर न लगे। आचार्यों ने स्व मे आने के मार्ग रूप सवर निर्जरा के जिन कारणों का निर्देश किया है। वे सभी कारण परिग्रह निवृत्त रूप हैं, किसी मे भी हिंसा, झूठ, चोरी जैसे किसी परिग्रह का सचय नही। तथाहि—'स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा-परीषह चारित्रैः।' 'तपसा निर्जरा च।'—गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है और तप से संवर और निर्जरा दोनो होते हैं। उक्त क्रियाओ मे प्रवृत्ति भी निवृत्ति का स्थान रखती है—सभी मे पर—परिग्रह का त्याग और स्व मे आना है। तथाहि —

गुप्ति—'यतः संसारकारणादात्मनो गोपन सा गुप्तिः।'
रा० वा० ९, २, १।

— जिसके बल से ससार के कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षण) होना है वह गुप्ति है।

मनोगुप्ति—'जो रागादि णियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ती।'

वचोगुप्ति—'अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती॥' नि० सा० ६९।

कायगुप्ति—'काय किरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगेगुत्ती।' नि० सा० ७०।

समिति—'निज परम तत्त्व निरत सहज परम-बोधादि परम धर्मागां संहति समिति। नि.सा.ता. वृ. ६१
'स्व स्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितिः।'
प्र० सा० ता० वृ० २४०।

'अनंत ज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिंतन

क्य तो न रहा, पर जैन के रहस्य को किनारे रख किन्हीं लोगों ने किन्हीं राजनैतिक लाभों को प्राप्त करने की दृष्टि से (भी) संख्या बढ़ाने-बढ़वाने के प्रयत्न चालू कर दिये। (हालांकि संख्या बढ़ाने-बढ़वाने से अभी तक शायद ही कोई लाभ प्राप्त हो सका हो), वे ऐसे पुद्‌गल-कलेवरों की वृद्धि करने को जैन की वृद्धि मान बैठे। इसका जो फल हुआ वह हमारे सामने है। जैन जैसा रत्न, जो आत्मा का धर्म है, वह नश्वर शरीर-रूप जैसी मिट्टी का धर्म बनकर रह गया। ऐसे लोग किसी कुल में जन्म लेने वाली मिट्टी की काया को 'जैनी' मानने लगे और असली जैन, जैनत्व भाव लुप्त होता गया। यानी जैन के सर्वथा विपरीत हीन आचरण वाले भी जैन कहलाने लगे। पं० टोडरमल जी कहते हैं—"जो उच्चकुलविषैं उपजि हीन आचरन करै, तो वाकों उच्च कैसे मानिए? जो कुल विषै उपजने ही तैं उच्चपना रहे तो मांस भक्षणादि किए भी वाकौं उच्च ही मानो सो बनैं नाही।' भारत विषै भी अनेक प्रकार ब्राह्मण कहे हैं। तहा जो ब्राह्मण होय चांडाल का कार्य करै ताकौं चाण्डाल-ब्राह्मण कहिए ऐसा कह्या है। सो कुल ही तैं उच्चपना होय तो ऐसी हीन संज्ञा काहेकौं दई?"—मो० मा० २५८

संसार में सबसे बड़े दुख जन्म मरण कहे हैं—अन्य सभी दुःख इन्हीं के होने पर होते हैं और इन्हीं दोनों के अभाव हो जाने का नाम मुक्ति है। विचारने की बात ये है कि इन दोनों दुखों में कारण कौन हैं? जहां तक मरण की बात है हम उसमें आयु कर्म के क्षय को कारण कह सकते हैं, सो कर्म का क्षय होना कोई बुरी बात नहीं। कर्म के क्षय को जैन दर्शनकारों ने इष्ट ही माना है और इसके लिए ही सारे उपाय बतलाये हैं। हाँ, रही जन्म की बात, सो उसमें अन्तरंग निमित्त आयु कर्म का उदय और बहिरंग निमित्त मैथुनक्रिया है और ये दोनों ही जैन-दर्शन में अनिष्ट कहे गए हैं। जहां तक कर्म का उदय है उसको हम छोड़ भी दें तो भी मैथुन तो अब्रह्म है ही और अब्रह्म को पाप कहा गया है—'मैथुनमब्रह्म।' सभी जानते हैं कि जीवों के जन्म लेने (शरीर धारण करने) में मैथुनरूप-पाप निमित्त बनता है और पाप के निमित्त से हुआ जन्म पुण्य कहलाए, यह बात समझ से बाहर है। अब हम यह कहते हैं कि जैन कुल में जन्म लेना पुण्य पर आधारित है तो पहिले तो जन्म ही पाप (बुरा—दुःखरूप) है; दूसरे जिसे हम जैन कुल कहते हैं वह जैन है कहाँ? जैन तो 'जिन' में बैठा है—चारित्र शील व्यक्ति में बैठा है, पुद्‌गल काया में 'जैन' कहाँ? एतावता जन-संख्या बढ़ाने से जैन बढ़ जाते हैं यह बात सर्वथा अटपटी-सी है। उक्त स्थिति में भी लोग न जाने क्यों शरीर-पिण्डों की संख्या बढ़ाने को जैन की संख्या वृद्धि मान रहे हैं? यह आश्चर्य ही है।

जैनाचार्यों ने जहां पदार्थों का वर्णन किया है वहां उन्होंने उनके गुण-धर्मों का भी वर्णन किया है। जब उन्होंने आत्मगुणों के विकास की चरमावस्था को प्राप्त आत्मा को 'जिन और उनके धर्म कों जैन कहा तब लोग इसे कुल में प्राप्त शरीर में कल्पित करने लगे। यानी आत्मा का धर्म—'जैन', पुद्‌गल-रूप हो गया अर्थात् जो इस समुदाय में पैदा हो गया वह काया जैन हो गया।

यदि हम आत्मा के गुणों के आधार पर जैनत्व का निश्चय न भी करें और अधिक स्थूल व्यवहार में जाकर ही देखें तब भी आज जैनों की संख्या नगण्य ही रहेगी। जैसे—देवदर्शन करना, रात्रि भोजन का त्यागी होना, छने जल का पीना, अष्ट-मूलगुणो का धारण करना आदि। ये सब ऐसे मोटे चिन्ह हैं, जिससे साधारण जैन की पहिचान की जा सकती है। पर, आज आलीशान सामिष होटलों में रात्रि में प्रीति-भोज आयोजन जैसे समाचार प्रमुख जैन-पत्रों में छपते रहे हैं।

आचार-विचार की दशा ये है कि रात्रि-भोजन त्याग आदि जैसे साधारण नियमों का पालन तो दर-किनार, गाहे-बगाहे अब तो जैनियों के कुछ अंगों को बड़े-बड़े सामिष होटलों तक में भी देखा जा सकता है। लोग अपनी आंखों से कई मान्यों को भी होटलों की सैर करते कराते, उनमें विवाह शादी रचते-रचाते देख रहे हैं। ऐसे मान्यों में स्टेजों पर धर्म पर मर-मिटने की सौगन्ध खाने-खिलाने वाले कई मान्य भी शामिल हैं। जो लोग सामूहिक रात्रि-भोजन निषेध का प्रचार करते हैं, 'दिन में फेरे, दिन में बारात' आदि जैसे नारे बुलन्द करते हैं, उनमें कई को रात्रि-भोजन करते और होटल की शादियो में सम्मिलित होते आराम से देखा जा सकता है।

हमें लिखने में संकोच नहीं, अपितु सन्तोष है कि किन्हीं प्रबुद्धों के प्रयासों से आज हम जैन-नामधारियों ने यह तो महसूस किया है कि जैनों का ह्रास हो गया है—उनमें आचार-विचार नाम की चीज नहीं जैसी रह गई है, वे जेनी नहीं रह गए हैं। इसका जीता-जागता सबूत है—शाकाहार और श्रावकाचार वर्ष का मनाया जाना। यह आयोजन हमारे गाल पर ऐसा तमाचा है जो हमें शर्मिन्दा करने के लिए काफी है, ऐसा इसलिए कि—जैनी नियम से शाकाहारी और श्रावक होता है। उसके लिए शाकाहार और श्रावकाचार वर्ष मनाने की सार्थकता ही क्या? यदि ऐसा नहीं और वह मांसाहारी बन चुका है तो वह जैन कैसे है?

हम तो तब भी शर्मिन्दा होते हैं, जब कोई विद्वान् वर्तमान जैन-सभा में आकर वर्तमान जैनियों को शिक्षा देता है कि सप्त व्यसनों का त्याग करो, पाँच पापो का त्याग करो आदि! हम सोचते हैं कि वह जैनो को उपदेश दे रहा है या पापियों को तारने का प्रयत्न कर रहा है? क्योंकि जैनी पापी नही होता और निष्पाप को ऐसा उपदेश नहीं होता।

यदि हम ऐसा मानकर चलें कि शाकाहार वर्ष तो हम इतर समाज व देश के लिए मना रहे हैं। तो संवर के बिना निर्जरा कैसी? जब तक मछली उत्पादन : मुर्गी पालन आदि जैसे मांसोत्पादक केन्द्रो का निरोध न हो तब तक देश के लिए शाकाहार वर्ष की सार्थकता कैसे? पहिले तो उन स्रोतों को बन्द कराना चाहिए जो मांसोत्पादन कर शाकाहार मे गिरावट ला रहे हैं। चाहे इसमें सरकार से भी लोहा क्यो न लेना पड़े? पर, बिल्ली के गले में घण्टी बांधे कौन? फिर, आज जैनी भी तो पूर्णतया शाकाहारी नही रह गए हैं? मीठा-मीठा गप, कड़वा-कड़वा थू! उक्त स्थितियों में क्या हम जैनी हैं? जरा सोचिए!

२. ताला कब तक लगाया जायगा?

हमने उन बछड़ों, बैलों और ऊंटों को देखा है, जिनके मालिक मुंह पर छीकें (खोंच) बाध देते हैं। ऐसा करने से जो बछड़े गाय का दूध पी जाते हों वे रुक जाते हैं। जो बैल और ऊंट अनाज खा जाते हो वे भी रुक जाते हैं। हालां कि ऐसा करना भी धर्म सम्मत नहीं। सभी जानते हैं कि तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे महान् को भी पूर्वभव में ऐसे उपदेश देने के कारण ही तीर्थंकरभव में छह माह निराहार घूमना पड़ा। कदाचित् कोई व्यक्ति लौकिक उपयोगिता को समझ, किसी प्रथा का पोषण करे तो किसी अश में कदाचित् मौन धारण किया जा सकता है, पर, जो व्यक्ति समाज के आचार और धार्मिक प्रवृत्तियो के ह्रास को देखते हुए भी आचार और धर्म के सरक्षण की प्रवृत्तियों में रत्त-किसी व्यक्ति को मुंह न खोलने दे और उसकी जुबान पर ताला लगाने-लगवाने के प्रच्छन्न या उजागर उपक्रम करे तो हम पीडा से कराह उठते हैं। हम नही समझते कि ऐसे लोग सही सुनना क्यों नहीं चाहते। सन्देह होता है कि कही वे दोषी तो नही।

आज समाज और धर्माचार का जैसा विकृत रूप उभर कर सामने आया है उसमे खरीबात सुनने से भयभीत होते रहने और खरों के मुह पर ताला लगाते रहने जेसे उपक्रम ही मूल कारण बने हैं जो धीरे-धीरे परिपक्व होकर सड़े फोड़े की भांति रिसने लगे हैं। पिछली कई घटनायें हैं कि जब किसी ने कुप्रथाओं और आगम-विरुद्ध-वर्तनो के विरुद्ध कोई आवाज उठाई, तभी कुछ तथाकथित लोगों ने उन्हें रोकने की चेष्टाएं कीं। फलस्वरूप कुछ कुचले गए, कुछ मैदान छोड़ गए, कुछ समाज से छिटक गए और इस तरह न्यायमार्ग का ह्रास होता रहा। यदि लोगों में तनिक भी सहनशीलता और विचार शक्ति रही होती तो वे किसी भी विरोधी की बातें सुनते सोचते और पूर्वाचार्यों के 'परीक्षा-प्रधानी' बनने जैसे अमूल्य वाक्यों पर अमल करते, तो समाज और धर्माचार की ऐसी दीन दशा न होती जैसी आज देखने में आ रही है।

आज आम लोगों के मुख पर मुरझाहट है। जो धर्म की राह में हैं वे अक्सर सहमे-सहमे से हैं। ध्यानी ध्यान करते, पुजारी पूजा करते और दुनियावी मनुष्य दुनियादारी में घूमते हुए शंकित और भयभीत है कि कहीं उसके

मार्ग में कोई रुकावट खड़ी न हो जाय। तेरापंथी के लिए कोई बीसपंथी और बीसपंथी के लिए कोई तेरापंथी रुकावट खड़ी न कर दे। या कहीं कोई श्वेताम्बर किसी दिगम्बर के या दिगम्बरी किसी श्वेताम्बर के हक को हड़प न ले, हालांकि उनके दिलों में परस्पर में स्व-सम्प्रदायियों के लिए भी कोई सम्मानित स्थान नहीं जैसा है—वे परस्पर में भी एक दूसरे की काट पर तुले हैं। ऐसा क्यों?

एक बार जब सोनगढ़ वालों की ओर से भावी तीर्थंकर के नाम से सूर्यकीर्ति जैसे कल्पित तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित हुई, तब हमने भी उसके अनौचित्य पर दो शब्द लिख दिए थे। जब काफी लोग सोनगढ़-साहित्य का खुले आम बहिष्कार कर रहे हैं और पूज्य आचार्य धर्म सागर जी महाराज जैसे सन्त भी इसमें सहमत हैं, तब हमने उस विषय मे उसके बहिष्कार को पुष्ट न कर इतना संशोधन ही दिया था हम उसे 'कसौटी पर कसें'—यह बात आगम के सर्वथा अनुकूल है और आचार्योक्त मूल-आगमांगों की रक्षा में भी समर्थ है। यत. हम नहीं चाहते कि किन्हीं प्रसंगों से हमारे पूर्वाचार्यों की अवमानना हो। फिर भी हमें आश्चर्य है कि कुछ लोगों को परख की बात खटकी! जब कि हमारे पूर्वाचार्यों का निर्देश, उनके स्वयं के कथनों को भी परख कर ग्रहण करने का रहा है—परीक्षा प्रधानी होने का उनका आदेश है। कुछ लोगों ने हमें कहा कि आपको संपादक अनेकान्त के नाम से किसी खास नाम को इंगित नहीं करना चाहिए आदि। सो हम तो ऐसा समझे हैं कि आगम और अनेकान्त जन साधारण की आंखें खोलने के लिए हैं, किसी का आँख मींचकर तिरस्कार या सम्मान करने के लिए नहीं हैं और ना ही मौन रहने के लिए। हमने तो ऐसा खास कुछ नहीं लिखा है—परीक्षण की ही बात की है। जब कि न्यायप्रसंग में अनेकान्त और उसके संस्थापक मुख्तार सा० की नीति इससे भी कड़ी रही है और वे विपरीत प्रतिभासित होने वाली प्रवृत्तियों के खिलाफ सदा आवाज उठाते रहे हैं। मुख्तार सा० ने अनेकान्त में ही (स्व० कान जी स्वामी की जीवित अवस्था में) 'समयसार की १५ वीं गाथा और कान जी स्वामी' शीर्षक में उनको लक्ष्य कर—विचारार्थ जो लिखा था, उसकी झलकी देखिए—

१ "कानजी स्वामी का 'वीतरागता ही जैनधर्म है'। इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहार नय के वक्तव्य का विरोधी है, वचननय के दोष से दूषित है और जिन शासन के साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती।" अनेकान्त वर्ष १२ कि० ८ पृ० २७७.

२ (कानजी स्वामी का) "सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्त की ओर ढला हुआ है, प्राय: एकान्त मिथ्यात्व को पुष्ट करता है और जिन शासन के स्वरूप विषय में लोगों को गुमराह करने वाला है। इसके सिवाय जिन शासन के कुछ महान स्तंभों को भी इसमें 'लौकिक जन' तथा अन्यमतो जैसे शब्दो से याद किया है और प्रकारान्तर से यहां तक कह डाला कि उन्होंने जिनशासन को ठीक समझा नहीं।" वही कि ६ पृ. १८०

उक्त प्रसंगों को देखते हुए हमने नीति और आगम सम्मत ही किया है। किसी पक्ष का नाम तो हमें प्रसंगवश लेना पड़ा है—भक्तगण इसका बुरा न मानें। हमें खुशी है कि कुछ प्रबुद्धों ने हमारे निष्पक्ष और साहसिक विचारो को सराहा भी है।—हम आभारी हैं।

इसी प्रसंग मे एक बात और। सभी जानते हैं कि गणधर ने तीर्थंकर की वाणी को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग जैसे चार विभागों में बांटा और उक्त वाणी का सग्रह आगम कहलाया। जैन मंदिरों मे इसी आगम को गद्दी पर और साधारणरीति से भी प्रवचन और स्वाध्याय के लिए स्थापित किया जाता रहा। पर, आज स्थिति ऐसी हो रही है कि आचार्यों कृत मूल शास्त्रों की भाषा—प्राकृत, सस्कृत आदि से लोगो का नाता टूट सा चुका है। वे प्रादेशिकी और हिन्दी आदि भाषाओ की ओर दौड़ पड़े हैं। यहां तक कि उन्हें प० प्रवर टोडरमल जी और पं० सदासुख जी जैसे मनीषियों की भाषा भी नहीं रुचती। वे आधुनिक हिन्दी गद्य और काव्यमयी कृतियों को ही शास्त्र-जिनवाणी बना रहे हैं, मंदिरों में उनकी वाचना कर रहे हैं। फलत:—मंदिरों में भी इन कृतियों की भरमार हो रही है और मूल गायब हो रहा है।

हमारे लिखने से, संबंधित लोग रुष्ट भी हो सकते हैं पर लिखना तो हमें है ही। सो—इधर इस युग में, बहुत से अभिनन्दन ग्रंथ भी प्रकाशित हुए और हो रहे हैं। उनमें कई तो जिन मंदिरों में भी पहुंच चुके हैं। यद्यपि ऐसे ग्रंथ किसी अनुयोग में नहीं आते फिर भी कुछ लोग इन्हें मंदिरों में चौकियों पर रख इनका वाचन करने लगे हैं। हमने जब एक प्रबुद्ध सज्जन को तथ्य बतलाया तो वे विस्मित तो हो गए; लेकिन बोले—इसमें आगम विरुद्ध तो कुछ भी नहीं है; आदि।

आशंका है कि कभी ऐसे ग्रंथ जिनवाणी का स्थान ही न ले लें। क्योंकि साधारण जन की दृष्टि में ये भी जिनवाणी की भांति पूर्वापरविरोध रहित होते है। इन ग्रंथो में शलाका पुरुषों के चरित्रों की भांति ग्रन्थ-नायक के (वह भी) प्रशंसित-चरित्र मात्र का ही वर्णन होता है। उनमें कुछ धार्मिक, ऐतिहासिक और तात्विक कई लेख भी शामिल होते है। ये प्राकृत-संस्कृत जैसी क्लिष्ट मूल-भाषा में भी नहीं होते। पाठक इन्हें रुचि से और आसानी से पढ़ लेते हैं। उन्हें जैन से कोई विरोध भी प्रतीत नहीं होता। यानी उनकी दृष्टि में इनमें चारों अनुयोग एक साथ ही उपलब्ध हो रहे होते हैं अतः उन्हें ये सच्ची जिनवाणी ही हैं।

पर, इसे भलीभांति समझ लिया जाय कि जब कल्पित तीर्थंकर 'सूर्यकीर्ति की मूर्ति हमारे देखते-देखते—विरोध करते भी गाजे बाजे के साथ जोर-शोर से स्थापित हुई और हम उसे रोक न सके। विरोध में सत्याग्रह का ऐलान करने वाले भी गायब रहे। कुछ लोग असफल होकर भी क्षेप मिटाने के लिए "जो हो गया, सो हो गया अब हम आगे यह करेंगे, वो करेंगे" आदि नारों से समाज को भ्रमित या आश्वस्त करते रहे। तब अभिनन्दनग्रंथ आदि प्रच्छन्न रूप से हमारी जिनवाणी के स्थान पर विराजमान होकर भविष्य में अभिनन्दन नायकों को शलाका पुरुषों में शामिल करादें तो आश्चर्य नहीं। भले ही शलाका पुरुषों में अभिनन्दित व्यक्ति के नाम का अभाव ही क्यों न हो? सूर्यकीर्ति का नाम भी तो तीर्थंकरों की सूची में नहीं ही था। अतः हमें कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि सभी असत साहित्य की भांति अभिनंदन ग्रंथ आदि को भी मंदिरों —शास्त्र भंडारों से बाहर निकाला जाना चाहिए। लोग बुरा न मानें और सोचें कि वे खरी बात कहने वालों का विरोध कब तक करते रहेंगे—उनके मुंह पर ताला कब तक लगाते रहेंगे? क्या वे चाहते है कि सच्चाई का गला घोट दिया जाय! या उन्हें भय है कि सचाई का गला ना घोटने पर उनका व्यापार ठप्प हो जायगा? जरा-सोचिए!

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

देवता का स्मरण कर ज्यों उसके गले पर तलवार का प्रहार किया। परन्तु वह तलवार कुबेरप्रिय के कण्ठ का स्पर्श करते ही उसके कण्ठ में सुन्दर हार रूप में परिणत हो गई। तब चांडाल "जय जय" शब्द करता हुआ अलग जा खड़ा हुआ। यह देख चपलगति को और भी ईर्षा हुई, इसलिए उसने सेवकों सहित और भी अनेक शस्त्रों का वार किया। परन्तु वे समस्त शस्त्र कोई फल रूप और कोई पुष्परूप हो गए। देवों ने पंचाश्चर्य किये। यह खबर राजा को भी हुई। इसलिए उसने आकर चपलगति का काला मुंह कर गधे पर चढ़ाकर देश से निकलवा दिया और कुबेरप्रिय से क्षमा मांगी।

कुबेरप्रिय ने क्षमा करके कहा—मैं तो दिगम्बरीय दीक्षा धारण करूंगा। राजा ने कहा—मैं भी धारण करूंगा। तब वसुपाल को राज्य श्रीपाल को यौवराज्य पद और कुबेरप्रिय के पुत्र कुबेरकान्त को श्रेष्ठी पद देकर उन्होंने अनेक जनों के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की। सत्यवती आदिक अनेक रानियों ने भी आर्यिका के व्रत धारण किए। उस चांडाल ने प्रतिज्ञा की कि मैं भी पर्व के दिनों में अहिंसाव्रत और उपवास करूंगा। यह वही चांडाल है, जिसने लाक्षागृह में (लाख के घर में) विषुद्रेग के लिए धर्मोपदेश दिया था। कुबेरप्रिय और गुणपाल मुनि ने घोर तप करके कैलाश पर केवलज्ञान प्राप्त किया और कुछ काल बाद वहीं से मोक्ष को गए। इस तरह कुबेरप्रिय बहुत परिग्रही होने पर भी देवों के द्वारा पूजित हुआ। शील के प्रभाव से क्या नहीं हो सकता? अर्थात् सब कुछ हो सकता है। □□

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० ३-४ (युग्मांक) जुलाई-दिसम्बर १९८५

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	भव दुख वेगि हरो	१
२.	जाति और धर्म : डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	एक दिन तुमसे मिलूंगी : डा० सविता जैन	४
४.	१६३ बनाम १३६ : श्री बाबूलाल 'वक्ता'	५
५.	अपभ्रंश साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुण्यासव कहा —डा० राजाराम जैन आरा	७
६.	धर्मसार सतसई : श्री कुन्दनलाल जैन	११
७.	धर्म का मूलाधार आस्था या अंधास्था : —डा० प्रद्युम्न कुमार जैन	१५
८.	हिन्दी जैन काव्य के अज्ञात कवि : डा० गंगाराम	२३
९.	अनुकूलता प्रतिकूलता : हरिकृष्णदास 'हरि'	२५
१०.	णायकुमार चरिउ की सूक्तियां : डा. कस्तूरचंद	२६
११.	जैन दर्शन में ईश्वर की अवधारणा : —कु० मीनाक्षी शर्मा	३२
१२.	श्रमण संस्कृति : श्री सुरेन्द्रपाल सिंह	३७
१३.	प्रभावती रानी की कथा	४२
१४.	जैनत्व का मूल आधार : अपरिग्रह —सम्पादक 'वीरवाणी'	४३
१५.	विद्युच्छ्री कन्या की कथा	४४
१५.	जरा सोचिए—सम्पादकीय	४५

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक · बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० ३-४ | (युग्मांक) | जुलाई-दिसम्बर १९८५

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	भव दुख वेगि हरो	१
२.	जाति और धर्म : डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	एक दिन तुमसे मिलूंगी : डा० सविता जैन	४
४.	१६३ बनाम १३६ : श्री बाबूलाल 'वक्ता'	५
५.	अपभ्रंश साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुण्यासव कहा —डा० राजाराम जैन आरा	७
६.	धर्मसार सतसई : श्री कुन्दनलाल जैन	११
७.	धर्म का मूलाधार आस्था या अंधास्था : —डा० प्रद्युम्न कुमार जैन	१७
८.	हिन्दी जैन काव्य के अज्ञात कवि : डा० गंगाराम	२३
९.	अनुकूलता प्रतिकूलता : हरिकृष्णदास 'हरि'	२५
१०.	णायकुमार चरिउ की सूक्तियां : डा. कस्तूरचंद	२६
११.	जैन दर्शन में ईश्वर की अवधारणा : —कु० मीनाक्षी शर्मा	३२
१२.	श्रमण संस्कृति : श्री सुरेन्द्रपाल सिंह	३७
१३.	प्रभावली रानी की कथा	४२
१४.	जैनत्व का मूल आधार : अपरिग्रह : —सम्पादक 'वीरवाणी'	४३
१५.	विन्ध्यश्री कन्या की कथा	४४
१५.	जरा सोचिए—सम्पादकीय	४५

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

पूज्य आचार्य सूर्य सागर महाराज के उद्‌गार

[माघ शु० ११ वि० सं० २००७]

आज त्यागी छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेकर घर छोड़ देते हैं और अपने आपको एकदम पराश्रित कर देते हैं। इस क्रिया से त्यागियों की प्रतिष्ठा समाज में कम होती जा रही है। समन्तभद्र स्वामी ने परिग्रहत्याग का जो क्रम रक्खा है उसी क्रम से यदि परिग्रह का त्याग हो तो त्यागी पुरुष को कभी व्यग्रता का अनुभव न करना पड़े। सातवीं प्रतिमा तक न्याय पूर्ण व्यापार करने की आगम में छूट है फिर क्यों पहली दूसरी प्रतिमाधारी त्यागी व्यापारादि छोड़ भोजन वस्त्रादि के लिए परमुखापेक्षी बन जाते है। यद्यपि आशाधर जी ने गृहविरत श्रावक का भी वर्णन किया है पर वह अपने पास इतना परिग्रह रखता है जितने में उसका निर्वाह हो सकता है। यथार्थ में पर-गृह भोजन १०वी ग्यारहवी प्रतिमा से शुरू होता है। उसके पहले जो व्रती पर-गृह भोजन सापेक्ष होते हैं उन्हें संक्लेश का अनुभव करना पड़ता है। पास का पैसा छोड़ दिया और यातायात की इच्छा घटी नही ऐसी स्थिति में कितने ही त्यागी लोग तीर्थ यात्रादि के बहाने गृहस्थों से पैसे की याचना करते हैं। यह मार्ग अच्छा नहीं है। यदि याचना ही करनी थी तो त्याग का आडम्बर ही क्यों किया? त्याग का आडम्बर करने के बाद भी यदि अन्तःकरण में नही आया तो यह आत्मवञ्चना कहलायेगी।

त्यागी को किसी संस्थान-वाद में नहीं पड़ना चाहिए। यह कार्य गृहस्थों का है। त्यागी को इस दल-दल से दूर रहना चाहिए। घर छोड़ा, व्यापार छोड़ा, बाल-बच्चे छोड़े, इस भावना से कि हमारा कर्तृत्व का अहंभाव दूर हो और समता भाव से आत्मकल्याण करें, पर त्यागी होने पर भी वहब ना रहा तो क्या किया? इस संस्थावाद के दल-दल में फंसाने वाला तत्त्व लोकैषणा की चाह है। जिसके हृदय में यह विद्यमान रहती है वह संस्थाओं के कार्य दिखा कर लोक में अपनी ख्याति बढाना चाहता है पर इस थोथी लोकैषणा से क्या होने जाने वाला है? जब तक लोगो का स्वार्थ किसी से सिद्ध होता है तब तक वे उसके गीत गाते हैं और जब स्वार्थ मे कमी पड़ जाती है तो फिर टके को भी नहीं पूछते। इसलिए आत्मपरिणामों पर दृष्टि रखते हुए जितना उपदेश बन सके उतना त्यागी दे, अधिक की व्यग्रता न करे। त्यागी को ज्ञान का अभ्यास अच्छा करना चाहिए। आज कितने ही त्यागी ऐसे हैं जो सम्यग्दर्शन का लक्षण नही जानते, आठ मूल गुणो के नाम नही गिना पाते। ऐसे त्यागी अपने जीवन का समय किस प्रकार यापन करते हैं वे जानें। मेरी तो प्रेरणा है कि त्यागी को क्रम पूर्वक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिए। समाज मे त्यागियों की कमी नही परन्तु जिन्हें आगम का अभ्यास है ऐसे त्यागी कितने है? आगमज्ञान के बिना लोक मे प्रतिष्ठा नही और प्रतिष्ठा की चाह घटी नही इसलिए उट-पटांग क्रियाएं बनाकर भोली-भाली जनता में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते हैं पर इसे धर्म का रूप कैसे कहा जा सकता है? ज्ञान का अभ्यास जिसे है वह सदा अपने परिणामों को तौल कर ही व्रत धारण करता है। परिणामों की गति को समझे बिना ज्ञानी मानव कभी प्रवृत्ति नहीं करता अतः मुनि हो चाहे श्रावक, सबको अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास की दृष्टि से यदि दस बीस त्यागी एकत्र रह कर किसी विद्वान से अध्ययन करना चाहते है तो गृहस्थ लोग उसकी व्यवस्था कर दे सकते हैं।

आज का व्रती वर्ग चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है यह उचित नहीं है। मुनियो में तो उस मुनि के लिए एकल विहारी होने की आज्ञा है जो गुरु के सान्निध्य में रहकर अपने आचार-विचार में पूर्ण दक्ष हो तथा धर्म-प्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दें। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं उसी गुरु की आज्ञा पालन मे अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वयं एकाकी विहार करने लगते हैं। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ विहार करने में इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमें बुरा कहेंगे, गुरु प्रायश्चित्त देंगे। पर एकल विहारी

ओम् अर्हम्

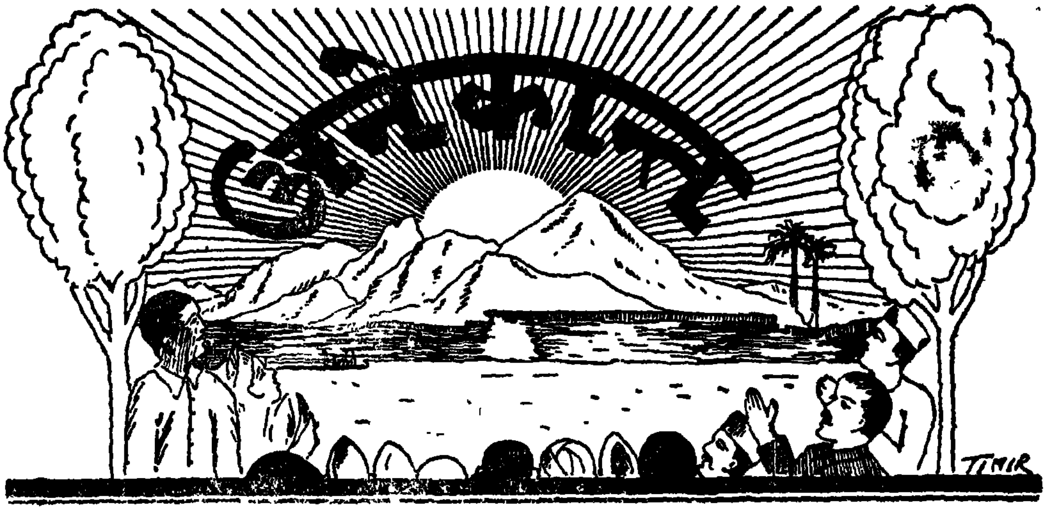

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३८ किरण ३ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५११, वि० स० २०४२ { जुलाई-सितम्बर १९८५

भव-दुख वेगि हरो

प्रभु जी तुम आतम ध्येय करो ।।
सब जग जाल तने विकलप तजि, निज सुख सहज वरो ।। प्रभुजी...

हम तुम एक द्रव्य दृष्टि से, पर यह भेद परो ।।
भेद ज्ञान बल तुम निज साधो, हम विवेक विसरो ।। प्रभुजी...

तुम निज राच लगे चेतन में, पर से नेह टरो ।
हम सम्बन्ध कियो तन धन से, भव वन विपति भरो ।। प्रभुजी...

तुम री आतम सिद्ध भई प्रभु, हम भव बन्ध धरो ।
या ते भई अधोगति हमरी, भव दुख अगनि जरो ।। प्रभुजी...

देखि तिहारी शांति छवि को, हम यह जान परो ।
हम हूं तुम सम होय सकत हैं, अब यह जान परो ।। प्रभुजी...

तुम निमित्त मम शक्ति प्रगट हो, निज अनुभवन सरो ।
मेरे तो बस देव तुम्ही हो, तुम सम और न कोई ।। प्रभुजी...

दर्शन मोह हरी हमरी मति, तुम लख सहज टरो ।
"चम्पा" शरण लई अब तुमरी, भव दुख वेगि हरो ।। प्रभुजी...

जाति और धर्म

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

अखिल भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में जिनधर्म अपनी उदाराशयता एवं बिना किसी भेदभाव के प्राणी-मात्र के हित-सुख की व्यापक दृष्टि के कारण महत्वपूर्ण विलक्षण स्थान रखता आया है। 'धर्म' शब्द की एक व्याख्या के अनुसार वह ऐसा कर्तव्य है जो मनुष्यमात्र के ही नहीं, प्राणीमात्र के ऐहिलौकिक तथा पारलौकिक, उभयजीवन को नियंत्रित एवं अनुशासित करके सबको सुपथ पर ले चलने में सहायक होता है। और, जैनधर्म या जिनधर्म तो वस्तुत: आत्मधर्म है, एक ऐसा व्यक्तिवादी धर्म है जो बिना किसी भेदभाव के समस्त प्राणियों के ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नयन और सुख-सुविधा का विचार करता हैं। इसके विपरीत, सामाजिक या लौकिक धर्म केवल मनुष्यों के ही इहलौकिक हितसाधन तक सीमित होता है, और बहुधा विविध अनगिनत अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियो पर अवलम्बित रहता है। आत्मधर्म से भिन्न यह लौकिक धर्म मूलत: प्रवृत्ति प्रधान ब्राह्म-वैदिक परम्परा की देन है, जिसमें शनै: शनै: वर्णाश्रमधर्म का रूप ले लिया। उस परम्परा में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र आदि वर्णभेद मूलत: गुण कर्मानुसारी ही थे, किन्तु समय के साथ उनके जन्मत: होने की मान्यता रूढ़ होती गई। जैन गृहस्थो के सामाजिक या लौकिक धर्म पर कालान्तर में उक्त ब्राह्मणीय वर्णव्यवस्था तथा उससे उद्भूत जाति-व्यवस्था का प्रभाव पड़ा, और धीरे-धीरे उन्होंने भी उसे अपना लिया। किन्तु मूल जिनधर्म की प्रकृति एवं स्वरूप के साथ उसकी कोई सगति नही है। कुन्दकुन्द, गुणधर, धरसेन, भूतबलि, वट्टकेरि, शिवार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, जटासिंहनंदि, रविषेण, हरिवंशकार जिनसेन, अकलंक, गुणभद्र अमितगति, प्रभाचन्द, शुभचन्द्र, प्रभृति अनेक प्राचीन प्रामाणिक आचार्यपुंगवों ने जन्मत: जातिप्रथा का निषेध ही किया है और गुणपद की ही स्थापना की है। इस विषय में दिगम्बर-श्वेताम्बर समग्र जैन संस्कृति का सुस्पष्ट उद्घोष रहा है कि—

कम्मणा होइ बम्हणा, खत्तियो हवइ कम्मणा।
कम्मणा होइ वैस्सो, सुद्दोवि हवइ कम्मणा॥

वास्तव में, प्रचलित जातिप्रथा कभी और कैसी भी रही हो, तथा किन्हीं परिस्थितियों या परिवेश में उपादेय अथवा शायद क्वचित आवश्यक भी रही हो, किंतु कालदोष एव निहित स्वार्थों के कारण उसमें जो कुशील या कुरीतियां, विकृतियां, विसंगतियां एवं अन्धविश्वास घर कर गये है, और परिणाम स्वरूप देश मे, राष्ट्र मे, समाज में एक ही धर्म सम्प्रदाय के अनुयायियो मे जो टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, पारस्परिक फूट, वैमनस्य एव भेद-भाव खुलकर सामने आ रहे हैं, वे व्यक्ति या समूह, सम्प्रदाय या समाज, देश या राष्ट्र किसी के लिए भी हितकर नही है, और प्रगति के सबसे बड़े अवरोधक हैं। धर्म की आड़ लेकर या कतिपय धर्मशास्त्रों, साधुसेवा, पंडितों आदि की साक्षी देकर जो उक्त विघटनकारी धारणाओं का पोषण किया जाता है, और उनके विरोध मे आवाज उठाने वाले का मुह बन्द करने की चेष्टा की जाती है, उससे यह आवश्यक हो जाता है कि धर्म के धर्म को धर्म की मूलाम्नाय के प्रामाणिक मौलिक शास्त्रो से जाना और समझा जाय।

धर्म-तत्त्व मानव इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है। सभी देशों और कालो मे जन-जन के मानस को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला यही धर्म-तत्व रहा है। साथ ही, प्राय: सभी धर्म-प्रवर्तको ने, उन्होने भी जिन्होने मनुष्येतर अन्य प्राणियो की उपेक्षा की, मनुष्यों को ऊंच-नीच आदि के पारस्परिक भेदभावों से ऊपर उठने का भी उपदेश दिया। यहूदी, ईसाई, मुसलमान यहां तक कि बौद्ध, कबीरपंथी, सिख आदि कई भारतीय धर्म भी,

मनुष्यमात्र की समानता का (इगेलिटेरियनिज्म) दावा करते हैं। श्रमण परंपरा के निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों द्वारा आचरित एवं उपदेशित जिनधर्म का तो मूलाधार ही समत्व-भाव है। यदि कोई अपवाद है तो वह ब्राह्मण-वैदिक परम्परा से उद्भूत, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित और जन्मतः जातिवाद को स्वीकार करने वाला तथाकथित हिन्दू धर्म है। यों तो, मूलतः समानतावादी एवं जातिवाद-विरोधी परम्पराओं में भी ऊंच-नीच का वर्गभेदपरक जातिवाद किसी न किसी प्रकार या रूप में घर कर ही गया, किन्तु उनमें उसकी जकड़ और पकड़ इतनी सख्त नही है जितनी कि हिन्दू धर्म में है। आज का प्रगतिशील विश्वमानस ऐसे भेदभावों को मानव के कल्याण एवं उन्नयन में बाधक समझता है और उनका विरोध करता है।

जैन समाज में तद्विषयक भ्रान्ति के रूढ़ हो जाने में कतिपय ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा विपरीत मान्यता वाले बहुसख्यक समुदाय के निकट सम्पर्क के अतिरिक्त, दो कारण प्रमुख प्रतीत होते हैं—एक तो यह कि वर्ण-जाति, कुल, गोत्र मे से प्रत्येक शब्द के कई-कई अर्थ हैं। जिनागम में कर्म-सिद्धान्त के अनुसार उनमे से प्रत्येक का जो अर्थ है, वह लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थ से भिन्न और विलक्षण है। दोनो को अभिन्न मान लेने से भ्रान्त धारणाएं बन जाती हैं। दूसरे, जो लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्म है, वह परिस्थितिजन्य हैं, और देशकालानुसार परिवर्तनीय अथवा संशोधनीय है। इस स्थूल तथ्य को भूलकर उसे जिनधर्म, आत्मधर्म, निश्चयधर्म या मोक्ष-मार्ग से, जो कि शास्वत एवं अपरिवर्तनीय है, अभिन्न समझ लिया जाता है। पक्षव्यामोह एवं कदाग्रह से मुक्त होकर भ्रान्ति के जनक इन दोनों कारणों को जिनधर्म की प्रकृति, उसके सिद्धान्त, तत्वज्ञान एवं मौलिक परम्परा के प्रतिपादक प्राचीन प्रामाणिक शास्त्रों के आलोक में भली-भांति समझकर प्रकृत विषय के सम्बन्ध मे निर्णय करने चाहिएं। इसका यह अर्थ नहीं है कि लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्म को सर्वथा नकार दिया जाय। वैसा करना न सम्भव ही है और न हितकर ही। परन्तु उसमें युगानुसारी तथा क्षेत्रानुसारी आवश्यक एवं समुचित परिवर्तन, संशोधनादि करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतएव व्यावहारिक, सामाजिक या लौकिक धर्म की व्यवस्थाएं, संस्थाएं और प्रथाएं रहेंगी ही, उनका रहना अपेक्षित भी है, किन्तु वे ऐसी हों जो सम्यक्त्व को दूषित करने वाली न हों, वरन् उसकी पोषक हों—मोक्षमार्ग मे साधक हों, बाधक न हों।

१८५७ ई० के स्वातंत्र्य-समर के उपरान्त जब इस महादेश पर विदेशी अंग्रेजी शासन सुव्यवस्थित हो गया तो प्रायः सम्पूर्ण देश में नवजागृति एवं अभ्युत्थान की एक अभूतपूर्व लहर शनैः शनैः व्याप्त होने लगी, जिससे जैन समाज भी अप्रभावित न रह सका। फलस्वरूप लगभग १८७५ से १९२५ ई० के पचास वर्षों में धर्मप्रचार एवं शिक्षाप्रचार के साथ-साथ समाजसुधार के भी अनेक आन्दोलन और अभियान चले। धर्मशास्त्रों का मुद्रण-प्रकाशन, धार्मिक व लौकिक शिक्षालयों तथा परीक्षा बोर्डों की स्थापना, स्त्री जाति का उद्धार, कुरीतियों के निवारण का उद्घोष, कई अखिल भारतीय सुधारवादी सगठनो का उदय, धार्मिक-सामाजिक, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आदि उन्हीं आन्दोलनों के परिणाम थे। जाति-प्रथा की कुरीतियो एवं हानियों पर तथाकथित बाबू पार्टी अर्थात् आधुनिक शिक्षा प्राप्त सुधारक वर्ग ने ही नही, तथाकथित पंडितदल के गुरू गोपालदास बरैया जैसे महारथियों ने भी आवाज उठाई। बा० सूरजभान वकील, पं० नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतल प्रसाद, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार प्रभृति अनेक शास्त्रज्ञ सुधारकों ने उस अभियान में प्रभूत योग दिया। अनेक पुस्तकें एवं लेखादि लिखे गये। मुख्तार सा० की पुस्तकें जिनपूजाधिकार-मीमांसा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनधर्म सर्वोदय तीर्थ हैं, ग्रन्थ-परीक्षाएं आदि, पं० दरबारी लाल सत्यभक्त की विजातीय-विवाह-मीमांसा, बा० जयभगवान की वीर-शासन की उदारता, पं० परमेष्ठीदास की जैनधर्म की उदारता, पं० फूलचन्द्र शास्त्री की जाति-वर्ण और धर्म-मीमांसा जैसी अनेक पुस्तकें तथा विभिन्न लेखकों के सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए और सुधारवादी नेताओं के जोशीले मंचीय भाषणों ने समाज को भरपूर झकझोरा। फलस्वरूप समाज में विचार परिवर्तन भी होने लगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति (१९४७ ई०) के उपरान्त आधुनिक युग की नई परिस्थितियों मे उसमे और अधिक वेग आया। प्रतिक्रियावादियों के भरपूर प्रयत्नों के बावजूद आज का जनमानस सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक शिथिलाचार के प्रति सजग हो गया है, और व्यवहार में जाति-पाँति के पुराने बधन बहुत ढीले पड़ते जाते हैं। वस्तुत. आज तो विश्वमानस अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक प्राय सभी स्तरों पर जातिवाद के भेदपरक एवं पृथकतावादी दूषणों का विरोधी हो उठा है। यह समय की मांग है।

वस्तुतः, धर्म तो मनुष्यो के जोड़ने के लिए है, तोड़ने के लिए नही, जबकि प्रचलित जाति-उपजातिवाद एक ही धर्म के अनुयायियों में और एक ही राष्ट्र के नागरिको मे परस्पर फूट डालकर विघटन का पोषण करता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सभी मनुष्यो की एक ही जाति अर्थात् जाति नाम-कर्म के उदय से होने वाली मनुष्य-जाति है। प्रचलित जाति-उपजातियां परिस्थितिजन्य हैं, मनुष्यकृत हैं; कृत्रिम और काल्पनिक हैं—वे प्राकृतिक या शाश्वत नही हैं। अनेक प्राचीन जातियां समय के गर्भ में विलीन हो गयी या अन्य जातियों में अन्तर्युक्त हो गईं, और अनेक नवीन जातियां-उपजातियाँ उत्पन्न होती रही है। अतएव धार्मिक दृष्टि से, धार्मिक समाज के संगठन की दृष्टि से, व्यक्ति और समष्टि के हित में, कम से कम समस्त साधर्मी जन तो उक्त भेदभावों से ऊपर उठकर अपने संगठन को अखण्ड एव सौहार्द्रपूर्ण बनाये रक्खें, यह आवश्यक है। तीर्थंकर नामा सर्वातिशय पुण्यप्रकृति के आस्रव एव बन्ध की कारण सोलह-भावनाओं में परिगणित साधर्मी-वात्सल्य भावना का महत्त्व इसी दृष्टि से आंकना उचित होगा।

ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ

एक दिन तुमसे मिलूंगी

□ डा० सविता जैन

सम्यक्त्व की राहों पर चलकर,
एक दिन तुमसे मिलूंगी ॥
यद्यपि तुमको जानती हूं,
पर नहीं पहचानती हूं।
चीन्ह ही लूंगी तुम्हें मैं
वीतरागी लौ जला कर।
सम्यक्त्व की राहों पर चलकर,
एक दिन तुमसे मिलूंगी ॥

रास्ता यद्यपि कठिन है,
लोभ की आँधी प्रबल है।
छा रहे घन मोह-तम के,
क्रोध की बिजली चमकती।
मोह की गहरी है दलदल,
काम के निशिचर हैं प्रहरी।
निर्जरा का पुल बना कर,
पार इन सब को करूंगी ॥ सम्यक्त्व···

इन्द्रियां भटका रही हैं, अहं का मद पिला रही हैं।
पर नहीं होने मैं दूंगी, इनका यह षड्यन्त्र हावी।
पंच मदों को जलाकर, भस्म मैं उनकी पीयूंगी ॥
सम्यक्त्व···

७/३५ दरियागंज, नई दिल्ली-२

१६३ बनाम १३६

□ लेखक—बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

वस्तु तत्व को समझने मे वस्तु का सामान्य स्वरूप समझना जरूरी है। वस्तु का विशेष स्वरूप सबके पकड़ में आ रहा है और अपने को उसी रूप समझ कर सामान्य स्वरूप के ज्ञान बिना अज्ञानी हो रहे हैं। पर्यायमात्र रूप ही अपने को मान रहे है, द्रव्य सामान्य का ज्ञान नही है। जो पर्याय में एकत्वपने को प्राप्त है ऐसे लोगों को द्रव्य सामान्य का ज्ञान करने की प्रेरणा की गई है, जिससे पर्याय को पर्याय तो माने परन्तु पर्याय में एकत्वपना मिट जावे। पर्याय मे एकत्वपना मानकर अपने को मनुष्य, देव नारकी, तिर्यंच, सुखी-दुखी, रागी-द्वेषी, धनिक गरीब मानता है। अगर द्रव्य स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तो उसे पर्याय सम्बन्धि सुख दुःख नहीं हों। जैसे कोई आदमी नाटक मे पार्ट (स्वांग) करता है वह अपनी असलियत को भूल जाता है तो पार्ट (स्वांग) में असलियत आ जाती है एवं स्वाग मे अपनापन आता है जिससे स्वांग सम्बन्धि सुख दुःख का भोक्ता हो जाता है। यही अवस्था यहां पर अज्ञानी की है वह अपने असली स्वभाव को भूल कर स्वांग मे ही अपनापना, असलियत मान रखा है ऐसे व्यक्ति को स्वभाव का ज्ञान कैसे हो और स्वभाव का ज्ञान हुए बिना उस पर्याय (स्वांग) सम्बन्धि दुःख-सुख नही मिट सकता। एक स्वांग से दूसरा स्वांग बदली तो हो जाता है परन्तु स्वांग मे असलियत नहीं मिटती है और असलियत मिटे बिना उस सम्बन्धी सुख-दुःख नही मिटता। बिना स्वभाव का ज्ञान हुए पर्याय में असलियत मिट नही सकती। यह तो युक्तियुक्त ही है कि अगर कोई व्यक्ति अपने को भूलकर स्वांग को ही अपना होना मान लेता है तो वह स्वांग सम्बन्धि सुखी दुखी हो जाता है। अगर फिर उसको अपने स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तो स्वांग सम्बन्धित सुख दुख नही रहता। यह हाल इस व्यक्ति का है। कर्म जनित स्वांग में अपनापना मानकर सुखी दुखी हो रहा है, उसको स्वभाव का ज्ञान कराना जरूरी है, इसके बिना उसका सुखी दुखी होना नही मिट सकता। इसने दुःखरूप पर्याय (स्वांग) को बदली करके सुखरूप पर्याय (स्वांग) को पाने की चेष्टा तो करी परन्तु अपने को पहचानने की चेष्टा नहीं करी। अपने को पहचान लेता तो फिर कैसी भी पर्याय मिले कोई दिक्कत नहीं रहती। अपने को पहचान लेना ही असली सही उपाय है।

अब सवाल यह पैदा होता है कि अपने को कैसे पहचाने। इस बारे में इस प्रकार विचार किया जा सकता है कि हरेक वस्तु में दो धर्म हैं एक सामान्य रूप और एक विशेषरूप। दोनों एक साथ एक समय में हैं। हम विशेष को गौण करके सामान्य को भी देख सकते हैं और सामान्य को गौण करके विशेष को भी देख सकते हैं परन्तु किसी एक का निषेध करने पर एकांत हो जाता हैं। जैसे कोई लड़का लड़की का पार्ट कर रहा है। वह अपने को लड़की रूप भी देख सकता है और लड़के रूप में भी देख सकता है क्योकि वह दोनों पनो को जानता है। वहां भी लडका रूप अनुभव करना आसान है, लड़की रूप अनुभव करना मुश्किल है। लड़की रूप तो अनुभव तभी कर सकता है जब वह भूल जाता है कि मैं लड़का हूं। इसी प्रकार सोने का जेवर है उसको जेवर रूप भी देख सकते है और सोने रूप में भी देख सकते हैं। सोने रूप देखने में जेवरपना उसी में गर्भित हो जाता है। कपड़ा खरीदने जाते हैं तब उसको पोत रूप भी देख सकते हैं। उसको धोती, ब्लाउज और डिजाइन रूप भी देख सकते हैं। कई व्यक्ति बैठे है, उसमें कुछ स्त्रियां हैं, कुछ पुरुष हैं, कुछ बच्चे हैं परन्तु एक दृष्टि डाले कि व्यक्ति कितने हैं वहाँ स्त्री, पुरुष, बच्चे के भेद मिट जाते हैं मात्र व्यक्ति कितने हैं उतने ही दिखाई देते हैं परन्तु जब भेद करे कि

स्त्रियाँ कितनी हैं, पुरुष कितने हैं और बच्चे कितने हैं तो सब अलग अलग दिखाई देते हैं। पहली सामान्य दृष्टि है जिसमे सारे विशेष गर्भित हैं दूसरी विशेष दृष्टि है। इसी प्रकार निगोद से लेकर सिद्ध पर्यन्त एक दृष्टि डाले तो सभी चैतन्य दिखाई देते हैं वहाँ संसारी मुक्त का भी अंतर नही है। त्रस स्थावर का भी भेद नहीं है। मात्र सभी चैतन्यरूप दिखाई देते है यह सामान्य दृष्टि है, इस दृष्टि मे सारे भेद गौण हो गए और दूसरी दृष्टि से देखे तो सब अलग-अलग हैं। सिद्ध और संसारी मे बडा अन्तर है त्रस स्थावर मे बडा अन्तर है, मनुष्य पशु में बडा अन्तर है। पहली दृष्टि मे सभी समान हैं वहा राग-द्वेष करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। कोई छोटा बड़ा नही, किसी की किसी के साथ कोई तुलना नही है। इसी प्रकार इस ढग से सोचा जा सकता है कि जब यह मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यंचपने को प्राप्त होता है वैसा शरीर मिलता है तब यह चैतन्य है कि नही, जब पशु है तब भी चैतन्य है जब गरीब है तब भी चैतन्य है, जब धनिक है तब भी चैतन्य है, जब निरोगी है तब भी चैतन्य है, जब रोगी है तब भी चैतन्य है और जब रागी है तब भी चैतन्य है, और जब द्वेषी है तब भी चैतन्य है। कहना यह है कि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए भी यह चैतन्यपने को नही छोड़ रहा है। तब उन अवस्थारूप तो हम अपने को देख सकते है, देखते है परन्तु अपने को चैतन्य रूप क्यों नही देख सकते। जिस रूप में हम हर हालत मे है, हर समय है, मरते हैं तब भी चैतन्य है जीते है तब भी चैतन्य है। अवस्था बदलती है, पर्याय बदलती है शरीर बदलता है परन्तु चैतन्य हमेशा हमेशा वैसा ही है वह अन्य रूप नही हो सकता। अगर एक बार अपने को जैसा पर्याय मे अपने को अपने रूप देखता है वैसा ही अपने को चैतन्यरूप देख लेता तो पर्याय तो रहती, शरीर तो रहता परन्तु उसमें असलियत खत्म हो जाती और उस पर्याय सम्बन्धी दुःख सुख नही रहता। जैसे नाटक में पार्ट करने वाला अपने को भूलकर अपने को पार्ट रूप मान लिया वह अगर अपने को जान ले तो पार्ट तो रहे पर पार्ट में अपनापना न रहे और फिर उस पार्ट को करते हुए उस पार्ट से सम्बन्धित सुख दुःख न हो। इसलिए आचार्य कहते हैं एक बार तू अपने को चैतन्य रूप अनुभव कर ले, तू वैसा त्रिकाल है, अपने स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है। मात्र भीतर झांकने भर की देरी है, तू ज्ञान का अखण्ड पिण्ड आनन्द की गोदाम है।

युक्ति कहती है कि जब यह अपने को शरीर रूप देख सकता है अनुभव कर सकता है तो अपने को चैतन्य रूप, ज्ञान रूप क्यो नही देख सकता जैसा वह त्रिकाल है। जब तक अपने को इस रूप में नहीं देखेगा इसका पर मे अपनापना मानना, शरीर के साथ एकत्वपना नहीं मिट सकता तब तक इसके ससार मिटने का कोई उपाय नही है।

इसी बात को समझने के लिए इस प्रकार भी रखा जा सकता है। १६३ की संख्या लेते हैं १ का अंक आत्मा का चैतन्य स्वभाव है ज्ञान का अखण्ड पिण्ड है। ६ का अंक क्षयोपसम भाव है यानी ज्ञान की मति, श्रुत ज्ञानरूप पर्याय है अथवा हमारी जानने की वर्तमान शक्ति है ३ की संख्या औदायिक भाव है जो कर्म के उदय से हो रहे हैं। इस प्रकार यह क्षयोपसमभाव रूप मैं अपने चैतन्य स्वभाव रूप १ को भूलकर कर्म के उदय से होने वाले ३ सख्या के वाचक औदायिक भावों के सम्मुख हो रहा हूं। उन्हीं औदायिक भावों को ही अपना मान रहा हू उसी रूप मै अपने को अनुभव कर रहा हूं उनके साथ एक हो रहा हूं यही ससार अवस्था १६३ की संख्या से बताई जा रही है कि १ की संख्या जो चैतन्य स्वभाव है उसको पीठ देकर यह औदायिक भावों को अपने रूप देख रहा है। शास्त्र का अध्ययन भी करता है पूजा-पाठ भी करता है, व्रतादि भी धारण करता है परन्तु ६ का अंक पलट कर १ के सम्मुख नहीं होता। जब तक ६ का अंक पलट कर १ के सम्मुख नही होगा ३ के अंक से पिट्ठ नही देता है तब तक सब कुछ करते हुए भी सम्यक दर्शन नहीं होगा। द्रव्यलिंगी मुनि ने औदायिक भावों को तो बदली किया परन्तु उसमे अपनापन नहीं छोड़ा और १ के अंक में अपनापना नहीं आया। इसी प्रकार ग्यारह अंग पढ़ कर सब कुछ पढ़ लिया परन्तु ६ का अंक १ के सम्मुख नही हुआ इसलिए सम्यक दर्शन नहीं हुआ। बार

अपभ्रंश-साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुण्णासवकहा

☐ राजाराम जैन

अपभ्रंश-साहित्य का भाषा-शास्त्र एवं काव्यरूपों की दृष्टि से जितना महत्व है उससे कही अधिक उसका महत्व आख्यान साहित्य की दृष्टि से है। अपभ्रंश के प्राय: समस्त कवि, आचार्य एवं दार्शनिक तथ्यो तथा लोक जीवन की अभिव्यञ्जना कथाओ के परिवेश द्वारा ही करते रहे है। इस प्रकार के आख्यानो के माध्यम से अपभ्रंश-साहित्य में मानव-जीवन एव जगत् की विविध मूक भावनाएँ एवं अनुभूतिया मुखरित हुई हैं। इसमे यदि एक ओर नैतिक एव धार्मिक आदर्शों की गंगा-जमुनी प्रवाहित हुई हैं तो दूसरी ओर लोक-जीवन से प्रादुर्भूत ऐहिक रस के मदमाते रसासिक्त निर्झर भी फूट पड़े है। एक ओर वह पुराण-पुरुषो के महामहिम चरित्रों से समृद्ध है तो दूसरी ओर वणिक्पुत्रों अथवा सामान्य वर्ग के सुखों-दु.खों अथवा रोमासपूर्ण कथाओं से परिव्याप्त हैं। श्रद्धा समन्वित भावभीनी स्तुतियों, सरस एव धार्मिक सूक्तियों तथा ऐश्वर्य-वैभव एव भोग-विलास जन्य वातावरण, वन-विहार, सगीत-गोष्ठिया, आखेट एवं जलक्रीडाएँ आदि सम्बन्धी विविध चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रश साहित्य की विशाल चित्रशाला अलंकृत है। नारी-जीवन में क्रान्ति की सर्वप्रथम समर्थ चिनगारी अपभ्रंश-साहित्य में दिखलाई पड़ती है। महासती सीता, रानी रेवती, महासती अनन्तमति, महारानी प्रभृति नारी पात्रो ने इस दृष्टि से अपभ्रंश के आख्यान साहित्य में एक नवीन जीवन ही प्राप्त किया है। महाकवि रइधू की 'पुण्णासव कहा' नामक रचना भी अपभ्रंश के आख्यान-साहित्य की दृष्टि से उपादेय है।

अपभ्रंश कथाओं का वर्गीकरण एवं उनमें 'पुण्णासव कहा' का स्थान—

जैन वाङ्मय में प्राय: पाँच प्रकार की कथाएँ निबद्ध है। **प्रथम** कथाओं का वह प्रकार है, जिनके नायक त्रिषष्टि शलाका पुरुषों में से कोई एक पुण्यशलाका पुरुष होता है। इस श्रेणी की कथाओ को पौराणिक कथाएँ कहा जाता है। इसका प्रधान लक्ष्य संसार के सुख-दुख, पाप-पुण्य एवं जन्म-जन्मान्तर के फलो का निरूपण कर नायक को मोक्ष की ओर ले जाता है।

द्वितीय—प्रकार की कथाए हैं, जिनमें नायक एक नही, बल्कि अनेक रहते हैं। यद्यपि कथा एक नायक की ओर ही गतिशील होती है, पर फलोपलब्धि अनेक नायको को होती है। इस श्रेणी की कथाओं को भी पुराण या महापुराण की कोटि में स्थान दिया जा सकता है। अन्तर इतना ही है कि प्रथम प्रकार की कथाएं अधिक विस्तृत नही होती और उनमें सरस एवं काव्यात्मक वर्णनों की

(पृ० ६ का शेषांश)

बार समझाने पर अगर ६ का अक १ के सम्मुख हो जावे तो औदायिक भाव रूप ३ का अंक भी मुह फेर ले तब १६३ से १३६ का अक हो जाता है यह सम्यक दृष्टि की दशा है। वह स्वभाव के सम्मुख और औदायिक भावो की तरफ पीठ फेरे हुए है। अब कभी औदायिक भावो की तरफ जाना भी है तो उनको पर रूप ही देखता हे उनमें अपनापना नही मानता। अब १३६ के अक मे जितना जितना ३ का अक एक में ठहरता जाता है उतना ही ६ के अंक रूप औदायिक भाव मिटते जाते है जैसे जैसे औदायिक भाव मिटते जाते है वैसे वैसे श्रावक और मुनि की अवस्था होती जाती है। इस प्रकार ६ का अंक घट कर ५, ४, ३, २. १, ० होकर शून्य हो जाता है। ३ का अंक एक में लीन हो जाता है और मात्र एक का अक याने एक अकेला चैतन्य रह जाता है। इस प्रकार १६३ की संख्या ससार है और १३६ की सख्या में मोक्षमार्ग है जो एक का ज्ञान बिना नही होता।

☐☐

प्रचुरता भी रहती है, जबकि उक्त द्वितीय श्रेणी की कथाओं में कथा का बाहुल्य रहने के कारण कथारस ही प्रधान होता है, काव्य चमत्कार नहीं।

तृतीय—श्रेणी में वे लघु-कथाएँ हैं, जो लोक-जीवन से ग्रहण की गई हैं तथा जिन्हें धार्मिक साँचे में ढालकर धार्मिक कथा का रूप दे दिया गया है। इस श्रेणी की कथाओं का पूर्वार्द्ध लोक कथा के रूप में गठित रहता है तथा लोक कथा के समस्त तत्व भी साथ-साथ वर्णित होते जाते हैं।

चतुर्थ—श्रेणी में वे आख्यान है, जिनमे ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ कुछ कल्पनाओं का समावेश हो जाता है। ऐसे आख्यानो को अर्ध ऐतिहासिक आख्यानों की कोटि में गिना जाता है।

पञ्चम—कोटि की वे कथाएँ है, जिनका प्रमुख उद्देश्य पुण्य की उत्कृष्टता और पाप की निकृष्टता प्रतिपादित करना है। इन कथाओं में पुण्य-पाप के फल के साथ-साथ पुण्य-पाप से भिन्न धर्म एवं आत्मानुभूति का निरूपण किया जाता है।

प्रस्तुत 'पुण्णासव कहा' उक्त पञ्चम श्रेणी का कथा ग्रन्थ है। महाकवि रइधू ने उक्त पांचों प्रकार की कथाओं का सृजन अपने विपुल साहित्य में किया है। उसके प्रस्तुत 'पुण्णासव कहा' में न तो एक नायक है और न कथागत एक प्रभाव ही। कवि ने सम्यक्त्व, पूजा, अर्चन, व्रतोपवास, पञ्च नवकार आराधन आदि पुण्यकार्यों के फलों को अभिव्यक्त करने के हेतु अनेक पात्रों का चयन किया है। प्रत्येक प्रमुख कथा अपने में स्वतन्त्र है। द्वितीय कथा के साथ उसका कोई तादात्म्य या समवाय सम्बन्ध नहीं है। केवल संयोग सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ में महाकवि रइधू की विशेषता यह है कि उसने ग्रंथ पुण्याश्रव कथा कोष में जिन तथ्यों की व्यञ्जना ५०-६० कथाओं के बीच की गई है, उनकी अपेक्षा रइधू ने उन समस्त तथ्यों का समावेश केवल २७ कथाओ में ही कर दिया है। फिर भी न तो उसके प्रवाह में कोई कमी आने पाई है और न आख्यान ही त्रुटित हैं। जिस कथा को कवि ने आरम्भ किया है उसका अन्त उद्देश्य के अनुसार पूर्ण फलोपलब्धि के पश्चात् ही हुआ। धार्मिक तथ्यों और पारिभाषिक शब्दावलियों ने कथा-प्रवाह में कोई कमी या त्रुटि नहीं आने दी है। कवि ने अपने इस ग्रन्थ के सृजन में पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश—तीनों भाषाओं के आख्यानात्मक साहित्य का अध्ययन कर तथ्यों को ग्रहण किया है। यही कारण है कि चाणक्य-चन्द्रगुप्त जैसे राजनैतिक आख्यान भी इस ग्रंथ मे समाविष्ट हैं।

प्रति परिचय—

उक्त 'पुण्णासव कहा' की एक ही प्रति अभी तक ज्ञात एवं उपलब्ध हो सकी है। इसमें कुल मिलाकर ११२ पत्र हैं। प्रति पृष्ठ की लम्बाई-चौड़ाई १६"×१७" है। प्रत्येक पृष्ठ की पक्तियो की संख्या ११ से लेकर १२ तक हैं। मूल-प्रकरणों में गहरी काली स्याही एवं 'धत्ता' शब्द तथा सन्ध्यन्त सूचक-पुष्पिकाओं में लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। अगल-बगल में २"×२" एवं ऊपर नीचे १"×१" के हाशिये छोड़े गए हैं। सभी पृष्ठों के बीचों-बीच छोटा-छोटा गोलाकार कुछ स्थान भी छूटा हुआ है। प्रति का प्रारम्भ ॐ ॐ णमो श्री वीतरागाय नमः १—पणविवि सिर वीरं णाणगहीरं। भवजल णिहि परतीरं पयं॥ से होता है एवं अन्त निम्न पद्य से होता है:—

पर्यालोच्य विभूति चंचल तडिद्दामिव दाने रुचि,
र्रच्चायां जगदीश्वरस्य विधिना येन कृताहर्निशां।
सूत्रार्थानुगतः प्रभाकर प्रभः सो नन्दतात्पावनः
श्री संघाधिप नेमिदास तनुजः पादार्धवर्णा··· ॥

उक्त प्रति मे प्रतिलिपि के लेखक का नाम, ग्रन्थ-लेखन के स्थान का नाम एवं प्रतिलिपि के लेखन के काल का उल्लेख नही है। अतः यह निश्चित नही कहा जा सकता कि यह प्रति कितनी प्राचीन है, किन्तु इसकी लिपि को देखने से यह अनुमान होता है कि वह लगभग ४०० वर्ष प्राचीन अवश्य रही है। यह प्रति जीर्ण-शीर्ण हो रही है। क्रम सं० ८२, ७०, ११० एवं १११वें पत्र कुछ अधिक गले हुए है तथा उनमें कुछ शब्द टूट भी गए हैं। ग्रन्थ के तीन पृष्ठ—९७, १०३ एव १०६ दो-दो टुकड़ो को जोड़कर बनाये गए हैं। उनके जोड़ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। इस प्रति में मोटे एवं पतले दोनों ही प्रकार के कागजों का उपयोग किया गया है। पतले

कागज वाले पृष्ठों की संख्या पांच है। इन पहले पृष्ठों के रंग में भी कुछ अन्तर है। मोटे कागज वाले पत्र कुछ कृष्णरुखी सफेद हैं और पतले वाले पत्र अल्प पीतवर्ण मिश्रित सफेद। किन्तु लिखावट सर्वत्र एक सदृश है।

प्रथम पृष्ठ पर वर्णन विषय के बीचो बीच लाल स्याही से चौकोर सजावट वाला एक चित्र है, जिसके मध्य में लाल स्याही से एक गोलाकार बिन्दु बना है। और उसके चारों ओर खड़ी खड़ी पंक्तियां खींचकर उसे चौकोर खींची हुई सीमा रेखाओं से जोड़ दिया गया है। यह आकृति सूर्य एवं उसकी छिटकती हुई किरणों का आभास प्रदान करती है। इस चतुष्कोण के बाहर भी चारों ओर चार छोटे २ चतुष्कोण प्रमुख चतुष्कोण की सीमाओं से जुड़े हुए हैं। उन सभी के मध्य में एक दूसरों को केन्द्र में काटने वाली दो-दो रेखाएं भी खिंची हैं।

सन्धि, कडवक आदि सभी पर क्रम संख्या दी हुई है। हां, कडवकों के क्रम में कहीं २ गलत संख्याक्रम दिया हुआ है, किन्तु सन्ध्यन्त उसका हिसाब सही है।

लिपिक ने सभी पत्रों पर प्रारम्भ से अन्त तक लिखा है। कोई भी पत्र खाली नहीं है। पृष्ठों के बायीं एवं दायीं ओर ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं है।

सौन्दर्य की दृष्टि से गलती से लिखे गये वर्णों को लिपिकार ने काटा नहीं है किन्तु उनकी निरर्थकता को सूचित करने हेतु उनके ऊपर छोटी-छोटी दो रेखाएँ अंकित कर दी हैं।

लिपिकार ने कहीं २ किसी पारिभाषिक जटिल शब्द को भी क्रम संख्या देकर हाशिये में लिख दिया है।

प्रति की विशेषताएँ —

प्रस्तुत कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके मुख पृष्ठ पर लिपिकार ने संक्षिप्त ग्रन्थ-विषय सूची दे दी है और बताया है कि कौन सन्धि किस पृष्ठ पर समाप्त होगी। फिर ग्रन्थ की कुल पृष्ठ संख्या सूचित की। प्रथम चार पत्रों की विषय सामग्री समकालीन हिन्दी में निम्न प्रकार प्रस्तुत की है :—

"प्रथम ही पंच परमेष्टी स्तुति, पाछैं सरस्वती स्तुति, चन्दवारि पटनुं, सिरिराम राजा की प्रभुता वंनीं, देसनगर महिमा वंनीं। महाजन लोग सुषी, नैमिदास पुरवार वर्नंतु, कुटंब वर्णनुं, करि पाछै नेमिदास संगही नै रइधू सौं विनो भक्ति करि, कि मौकों धर्म, और पुंनुं वितांतु विस्तार सौं सुनावौ : तब रइधू नै यहु श्रावकचारु निर्मायौ, धर्मपुन्य के भेद सम्यक्त के भेद, यति श्रावक धर्म सबु : रइधू कहत हैं नैमिदास संगही सुनत हैं, नैमिदास के नामकरि ग्रन्थु कीनी, पत्र तीनों मौं ऐ बातैं, चौथे पत्र में श्रावकाचार चल्यौ। श्रेनिक राजा नैं प्रश्न करी : मनपर नैं कह्यौ, पहल ही सम्यक्त।"

लिपिकार के उक्त लेखन से कई विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है। सर्वप्रथम यह कि आज से ४०० वर्ष पूर्व के एक लिपिकार के मन में अपभ्रंश-भाषा के एक ग्रंथ की सुव्यवस्थित ग्रंथ-सूची एवं ग्रंथ-संक्षेप जन भाषा में तैयार करने की भावना जागृत हुई थी। इस शैली की विषय सूची एवं अपभ्रंश ग्रंथ का पृष्ठानुगामी हिन्दी संक्षेप मेरी दृष्टि से अभी तक उपलब्ध समस्त अपभ्रंश ग्रंथों में से कहीं उपलब्ध नहीं है। लिपिकार ने इस शैली को अपनाकर एक नवीन अद्भुत आदर्श उपस्थित किया है।

दूसरी विशेषता यह है कि लिपिकार ने 'पुण्णासव कहा' को "श्रावकाचार" की संज्ञा दी है। यद्यपि "पुण्णासव कहा" में स्वयं ही उसका अपरनाम "श्रावकाचार" कहीं भी उपलब्ध नहीं है किन्तु लिपिकार ने उक्त प्रथम पृष्ठ पर ही इस कृति को "पुण्णासव कहा" न कहकर उसे "श्रावकाचार" कहा है। उसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि "पुण्णासव कहा" में प्रायः श्रावक-श्राविकाओं की ही चर्चा है तथा बारहवीं सन्धि मे श्रावकाचार का शुद्ध सैद्धान्तिक वर्णन है। इसी आधार पर सम्भवत: उसने इसका अपरनाम "श्रावकाचार" कहा है।

जैसा कि पूर्व में संकेत दिया जा चुका है कि इस प्रति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें पत्र संख्या ६४ से ८७ तक छोड़कर सर्वत्र मूल वर्ण्य-विषय का पृष्ठानुगामी हिन्दी संक्षेप सत्र शैली में पत्रों के चारों ओर हाशियों में दिया हुआ है। इससे ग्रन्थ के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ पत्र संख्या २३ (क एवं ख) पर अमूढ़ दृष्टि अंग की कथा के अन्तर्गत रेवती रानी का कथानक आया है। उसमें मेघकूट के राजा चन्द्रप्रभ के

परिवार का वर्णन है। वह स्वयं दीक्षित होकर क्षुल्लक पद धारण करता है। संयोगवश वही क्षुल्लक मथुरा की यात्रा की तैयारी करता है और अपने गुरु से मथुरा के लोगों को समाचार भेजने हेतु जब वह निवेदन करता है तब गुरु ने वहां के मुनिराज सुव्रत को वन्दना-नमस्कार कहकर रानी रेवती से कुशल क्षेम पूछते हुए वापस लौटने को कहा किन्तु वहां के एक प्रमुख भट्टारक भव्यसेन के विषय में गुरु ने कोई चर्चा तक न की जबकि वह क्षुल्लक मुनि भव्य सेन को एक महान साधक मानता रहा था। इसी प्रसंग को लिपिकार ने समकालीन हिन्दी में इस प्रकार अंकित किया है :—

"अमूढदत्त गुन कथा, मेघकूट नगु, ससिपहु, राजा, रानी सुमई, ससिसेहर बेटा को राजु दीनौं, आपु ब्रह्मचारी भऐ।

श्राविकाओं की ही चर्चा है तथा बारहवी सन्धि में श्रावक-

ब्रह्मचार सौ गुरु नैं कही कि सुव्रत नाम मुनि सौं वन्दना भक्ति कहनैं : रेवती रानी सौ समाचार पूछनैं अभव्यसेन भटारक कौं कछु कह्यौ नाही ॥"

इसी प्रकार क्षुल्क जब मथुरा पहुंचता है और वहां वह जो कुछ करता है उसे हिन्दी मे इस प्रकार अङ्कित किया गया है :—

"सुव्रत मुनि सौं वन्दना कही। भव्यसेनि कौ मिल्यौ, कही कि तुम पैं पढ़नै आयो ही। मोकौ पढ़ावौ। वहि भूमिकौं चले। हरी भूमि उपजाई, परिक्षा लेतु है :

कमंडलु कौ पांनी विद्या करि दूरि कीनौ : एक (पृ० २३ क) पोषरि उपाई। जीवशासि, तामै सौच पवित्र भऐ, ब्राह्मन पुत्र नै अभव्यसेनि नामु धरी (पृ० २३ ख)।"

पहल ब्रह्मरूपु कीनो : दूजे नराइन रूपु कीनी तीजै महादेव रूपु कीनों, चौथें तीर्थंकर रूपु सांमिग्री सहित कीनी (पृ० २४ क)

ब्रह्मचारी नै चारि सरूप कीनै, भव्यसेनि आदि सब नग्र लोक देखन आऐ, रेवती न आई (पृ० २४ ख)।

ब्रह्मचारी आदिदेव ह्वो गऐ। नौ नराइन . ग्यारह रुद्र हो गऐ, तीर्थंकर चौबीस हो गऐ, अब कोई पाषडी आयौ है : रेवती रानी आई नाही। पाछै ब्रह्मचारी वपु रोग ग्रसित होई रेवती रानी कै द्वारै आयौ॥ रानी नै परिगाह्यौ (पृ० २५ क)।

ब्रह्मचारी ने अहारु लै करि नवनु करि, दुर्गन्धी उपजाई, घर के सब भजि गऐ, रानीं पछताप कर जागी, मैं कुभोजनु दीनी, मुनि नैं दुषु पायौ।

रानी की परीक्षा लैंकरि : ब्रह्मचारी मैं अपनौं सरूपु कीनौं गुरु की धर्म विधि कही : (पृ० २५ ख)

रानी रेवनी कथा : इहां संपूरन भई, ब्रह्मचारी क्षुलक गुरु पास आयौ : राजा नै रेवती रानी नै दिष्या लीनी, अस्त्री लिंगु छेदि देव भयौ (पृ० २६ क)।

उक्त हिन्दी प्रकरण में लिपि एवं भाषा सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार दृष्टिगोचर होती हैं :—

१—प्रतिलिपि में प्रयुक्त हिन्दी-गद्य ब्रज भाषा का पूर्वरूप है। कहीं-कही बुन्देली शब्दावली का भी प्रयोग मिलता है।

२—विषय प्रसंग की समाप्ति के समय पूर्ण विराम के स्थान पर के आकार के एक बिन्दु का प्रयोग किया गया है जो अंग्रेजी फुल स्टाप के समान है। इसी प्रकार किसी एक प्रकरण की समाप्ति पर समाप्ति सूचक चिन्ह दो विन्दुओं का प्रयोग मिलता है जो अंग्रेजी के 'कोलन' से मिलता-जुलता है। यद्यपि आम दोनों नियमों में कहीं-कहीं अपवाद भी मिलते हैं।

३—न और व को स्पष्ट करने के लिए 'व' के नीचे एक नुक्ता अथवा छोटा बिन्दु दिया हुआ है। यथा—व (वनु (वमन) रेवती (रेवती)।

४—'ख' के लिए सर्वत्र 'ष' का प्रयोग मिलता है। जैसे दुषु (दुखु) पोषरि (पोखरि)।

५—रकार पर ह्रस्व या दीर्घ उकार उसको पार्श्व में न जोड़कर नीचे जोड़ा गया है। जैसे—रूपु (रूपु सरूप (सरूपु)।

६—यकार सर्वत्र पकार जैसा है।

७—एकार के स्थान पर सर्वत्र ऐकार प्रयुक्त है। यथा—भऐ, गऐ, हुऐ।

८—दीर्घ ईकार के स्वतन्त्र प्रयोग पर उसकी रेफ को नीचे तक खींचा गया है। यथा—आई सुमई।

(क्रमशः)

गतांक से आगे :

पं० शिरोमणिदास जैन कृत "धर्मसार सतसई"

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

अथ तृतीय संधि प्रारंभ्यते

चौपाई—कर जोड़ें नृप शीस नवाय,
पुनि पूछै गणधर सों राय।
धर्म मूल सम्यक्त्व बतायौ,
शाखा कौन कहो मम भायो ॥१॥
राजा सुनहु धर्म की शाखा,
श्रावक यति व्रत दोष हो भाखा।
दोय धर्म हैं जग में सार,
जातें भवदधि पावहिं पार ॥२॥
त्रेपन क्रिया धरै गुणधारी,
सो श्रावक उत्तम सांचारी।
उत्तम श्रावक व्रत लव लावै,
षोडस स्वर्ग इन्द्र पद पावै ॥३॥

अथ त्रेपन क्रिया भेद—अष्ट मूल गुए व्रत सु बारह।
द्वादश तप सामायिक सारह।
एकादश प्रतिमा सुनि हेत,
चार दान में कहो सुचेत ॥४॥
जल गालन इक अंथऊ (शाम भोजन) लीन,
तीन रतन तहं कहे प्रवीन।
ऐ त्रेपन क्रिया परमान,
वर्णन करूं सुनो दे कान ॥५॥

अथ अष्ट मूल गुण—पंच उदम्बर तीन मकार,
इनके तजै मूल गुण सार।
इनके दूषण जो नर तजै,
अष्ट मूल गुण सो नर भजै ॥६॥

अथ पंच उदम्बर—बड़, पीपर, ऊमर तुम जानि,
पिलुकरि पाकरि कहे बखानि।
ए पंचहु फल हैं दुखदाई,
इनमें जीवराशि अधिकाई ॥७॥

उदम्बर के अतिचार—बेर, मकोरा, जामू, अचार,
करौंदा बेल, अतूत, मुरार।
कुम्हड़ा, गडेलू, विवा, भटा,
कलींदे फतकुली, चचैड़ा जटा ॥८॥
सूरन, मुरा, आदौ (अद्रक) गज्जरी,
महारुकद मूल जे हरी।
ए पुनि अवर कहे जिनराय,
इनमें जीव अनेक बसाय ॥९॥

अथ तीन मकार मह (मधु) वर्णन—
सकल निन्द्य रस माछी हरै,
करके वमन इकट्ठी धरै॥
अनेक अंडावर ऊपजै जहां,
बहुत जीव रस बूडै तहां ॥१०॥
अनेक जीव मरिकै मधु होय,
जो किमि भक्षइ धर्महिं गोय।
यज्ञ, पिण्ड लै मधु सो देइ,
मधु को भक्षि पाप सिर लेइ ॥११॥

मह (मधु) के अतिचार—नैनूं (मक्खन) काचो दूध पिय,
सीऊंरे जे कहे।
अप्रासुक जे नीर था, नैसखा ने जे लहे ॥१२॥

मद्य दूषन—स्वाद चलित जो वस्तु जु होइ,
ता सौं मद्य कहे सब लोय।
अनेक वस्तु ले सारै जहां,
अनेक जीव मरि उपजै तहां ॥१३॥
जो यह मद्य पियेजऊ रुढ़,
माता स्त्री नहीं जानै मूढ़।

(गंदा स्थान) – घूरे परै निलज्ज मुख वाय,
कूकर मूतै तामें आय ॥१४॥
मद्य मूत्र नही जाने भेद,
बार बार मागे करि खेद।
विकल देखि नर नारी हंसै,
जनम थूकि कै मुख में गसै ॥१५॥
याही जनम ऐसो फल लहै,
और जनम को कहि सकै।
मद्य के दूषण छाड़हु वीरा,
अब मैं कहूं सुनो तुम धीरा ॥१६॥
मद्य अतिचार—देव धर्म गुरु अन्य जु होय,
अन्य जति तुम जानो लोय।
अन्य जाति को भाजन (वर्तन) लेय,
अपनो भाजन ताको देय ॥१७॥
दिना दोय अधिकारी मठा,
दुदल वस्तु सो कीन्हो गठा।
फूल साधि जो मुख मे देइ,
अजान के हाथ को नीर जो लेई ॥१८॥
ए सब मद्य दोष दुख दाई,
अवर दोष को कहै बढ़ाई।
इनमे जीवराशि बहु रहै,
इनके त्यागै सब सुख लहै ॥१९॥
मांस दोष—जीव घात बिनु मास न होइ,
महा पाप यह जानो लोइ।
जीव अनेक पुनि तामे परै,
निन्द्य अपावन दृष्टि न धरै ॥२०॥
जौ लगि जीव देह मे बसै,
तौ लगि देह यह निर्मल दिसै।
जीव गये देह मुर्दा होय,
नर नारी पुनि छिवै न कोय ॥२१॥
धिक् धिक् मांस मास जो खाइ,
दुर्गति दुःख मिलै तिहि आइ।
पर जीव मारि उदर मे भरै,
घोर नरक कूं उनमे परै ॥२२॥
मांस अतिचार—हीग मलिल घी तेल,
चर्म की सगति जे रहै।
उपजै जीव अनेक, मांस दूषण यह जिन कहै ॥२३
जाको नाम न जान्यौ जाय,
अरु ऐसो फल कह्यो बताइ।
हाट चून अनगाल्यो नीर,
शाक पात फल हरित जु छीर ॥२४॥
जामे तार चलै बहु भांति,
लगै फफूंदा छाडो जाति।
कोमल फूल है पत्रज फूल,
त्वचा गवारि बहुबीजहु कूल ॥२५॥
ए सब दोष कहे तुम जानि,
अवर दोष को कहै बखानि।
जो नर मास त्याग व्रत धरे,
सकल दोष निश्चय परि हरै ॥२६॥
इन आठौं मे पाप अपार,
दोष सहित त्यागै व्रत धार।
जब त्यागै तब श्रावक होय,
अष्ट मूल गुण पालहि सोय ॥२७॥
॥ इति अष्ट मूलगुण ॥

अथ बारह व्रत—
दोहा -- पच अणुव्रत पालिए, तीन गुण व्रत जानि।
चऊ शिक्षा व्रत जिन कहे, ए बारह व्रत जानि ॥२८
अथ पंचाणुव्रत—प्राणभूत जीव सत्त जु चारि,
कीजै दया सकल हितकारि।
जो जीवनि को रक्षा करै,
भव सागर सो लीजै तरे ॥२९॥
दया धर्म कहिए संसार,
जातें तुरत उतरिए पार।
दयाहीन जो नर तुम जानि,
सो पापी यह कहो बखानि ॥३०॥
व्रत तप संयम दान दै कोइ,
दया बिना निष्फल हो सोइ।
तीरथ यज्ञ बहु होम विधान,
दया बिना कोई होय न काम ॥३१॥
अथ अमानक छंद —जो पंछी मरवेउ तिरै पाखान जल।
जो उलटै भुव लोक होइ सीतल अनिल।
जो सुमेरु डगमगै सिंध कहं लगै मल।

कबहूं नहिं सीकर तन उपज्यै पुण्य फल ॥३२
चौपाई—यातै जानि दया हिय धरै,
हिंसां वणिज सदा परिहरै।
हिंसा कर्म करै बहु पाप,
परभव जाय लहै संताप ॥३३॥
हिंसा कर्म—
दोहा—लाख लीलि रंग आदि दै सनु सबनु मंह विद्य।
सोरा (ड़ा) सीसो लोह विष मैंनु वनिज ए निंद्य ॥३४
चांवल तिली जु संग्रहै, नाज लेय अधिकार।
गोधन बहुत जो राखिकै, हिंसा बढ़ै अपार ॥३५
कंद जरै बहु खोदि कै, करै तेल अरु क्वाथ।
धातु मारि गुटिका करै,(रचै) पाप लेहु निज हाथ ॥३६
चौपाई—कुआं बावड़ी ताल बंधाई,
खाईं खोद अरु बाग लगाइ।
खेती करी अरु लादै बैल,
ए सब जानो दुर्गति गैल ॥३७॥
ए सब जीव दया के पोख,
तजि कुवंज (कुवणिज) मन धर संतोष।
जो भवि जीव दया मन राखै,
प्रथम अणुव्रत यह जिन साखै ॥३८॥
दोहा—अरविंद राय हिंसा करी, नरक सहे दुख जाइ।
मातग दया जो मन धरी, सुरपति बन्दौ आय ॥३६
अथ सत्याणुव्रत—कठिन वचन पर निन्दा होइ,
झूठी बात कहौ मति कोइ ॥४०॥
हित मित सत्य रहौ प्रमाण,
सुर नर मानैं जातैं आन।
जैसे भानु विराजे भोर,
सत्य सुजस प्रकटै चहुं ओर ॥४१॥
अथ कवित्त पावक तैं जल होय, वारिधि तैं थल होय,
सस्त्र से कमल होय, ग्राम होय वन तैं।
कूप तैं विवर होय, पर्वत तैं घर होय।
वासव तैं दान होय, हितु दुर्जन तैं।
सिंह तैं कुरंग होय, व्याल श्याल अंग होय।
विष तैं विदुष होय, माला अहि फन तैं।
विषम तैं सम होय, संकट न व्यापै कोय।
एते गुण होय सत्यवादी के दरस तैं ॥४२॥

दोहा—वसु राजा यह झूठ तैं, गिरत न लागी वार।
राय युधिष्ठिर सत्य तैं, पहुंचे मोक्ष द्वार ॥४३॥
अथास्तेयानुव्रत—अधिक वस्तु जो पर की लेइ,
पर कों घाटि आपु जो देइ।
परी वस्तु कै विसरी (भूली) होय,
थाती अनधरी है सोइ ॥४४॥
झूठी करौ करै नर कोइ,
यह सब चोरी जानो लोइ।
चोरी करै धर्म सब जाइ,
दुर्गति दुख मिलै तिहि आइ ॥४५॥
याही जन्म वध बन्धन लहै,
राजदण्ड पुनि निश्चय सहै।
देह खंड अपकीरत जानि,
अवर दुख को कहै बखानि ॥४६॥
अथ मरहठा छंद—
जो कीरति गोपै, धर्म विलोपै, करै महा अपराध।
जो शुभ गति तोरै दुर्गति लोरै, जोरै युद्ध उपाधि।
जो संकट आनै दुर्गति ठानै, वध बन्धन को गेह।
सब औगुण मंडित, गहै न पंडित, सो अल्ल (अलभ्य)-
धन एह ॥४७॥
चौपाई—चोरी आनी वस्तु न लेई,
चोरी को उपदेश न देई।
इह विधि चोरी त्यागै जबहिं,
तृतीय अणुव्रत पावै तबहिं ॥४८॥
दोहा—चोरी तें तापस गए वध बन्धन लही जु शोक।
अंजना चोर चोरी तजी, सुदेव भयो सुर लोक ॥४६
अथ ब्रह्मचर्याणुव्रत—विषय सत्ताइस इन्द्रियनि केरे,
अरु मन तें उपजै बहुतेरे।
विकार अनेक तजै जब और,
सो यह शील जगत सिरमौर ॥५०॥
परदारा जब त्यागै ग्रही,
चौथो अणुव्रत पावै सही।
मातु बहिन पुत्री सम चित्त,
परदारा तुम जानहु मित्र ॥५१॥
अथवा सांपनि सी मन धरो,
दुख की खानि दूर परिहरो।

पानी बिनु मोती है जैसो,
शील बिना नर लागै तैसो ॥५२॥

कवित्त—जो अपजस की डंक बजावत,
लावत कुल कलंक परधान।
जो चरित्र को देत जलांजलि,
गुनवन को दावानल दान ॥
सो शिव पंथ को वारि बनावत,
आवति विपति मिलन के थान।
चिंता मणि समाज जग जो नर,
सील रतन निज करत मिलान ॥५३॥

चौपाई—ज्ञान ध्यान व्रत संयम धरना,
यज्ञ विधान शुभ तीरथ करना।
पूजा दान बहु कोटिक करै,
शील बिना नहिं फल को लहै ॥५४॥

दोहा—रावण आदि जु क्षय भए, पर नारि के काज।
सेठ सुदर्शन शील तें, पायो शिवपुर राज ॥५५॥

निज नारी पुनि छोड़ो जानि, आठें पांचें, चौदसि मान।
दिवसें पुनि छोड़ें निज हेत, चौथो अणुव्रतधरहु सुचेत ॥५६

अथ परिग्रह प्रमाणुव्रत—
प्राणी तृष्णा लियो अति घनी, पूरी होय न क्योंकर तनी।
तीन लोक की लक्ष्मी पावै, तौ न तृष्णा पूरण आवै ॥५७
यही जान परिग्रह प्रमाण, अणुव्रत पचम कहो सुजान।
धरि संतोष तृष्णा वश करै, भवसागर सो लीजे तरै ॥५८
क्षेत्र गेह धन धान्य जु वीर, द्विपद, चतुष्पद, आसन वीर।
भंडार सयन आभूषण पान, भोजन भोग करो प्रमाण ॥५९
परिग्रह जानहु दुख की खानि,
पाप मूल पुनि कह्यो बखानि।
ज्यों ज्यों करहिं जु प्राणा आशा
दुर्गति आवै त्यों त्यों पासा ॥६०॥

अथ सवैया—कलह गयंद उपजायवे कों,
विन्ध्यागिरि क्रोध गीत के अघाइबे कों सु मसान है।
संकट भुजंग के निवास करिबे कों चील,
वैर भाव चोर को महा निशा समान है।
कोमल सुगुन घन खंडिवे कों महा पौन (पवन)
पुण्य वन दहिवे कों दावानल दान है।
नीति नय नीरजकों नसाइवें को हिम राशि,
ऐसो परिग्रह राग द्वेष का निधान है ॥६१॥

दोहा—सत्यघोष अति लोभतें दुःख सहे अधिकाइ।
शालिभद्र संतोष तैं, भए सिद्ध गुणधार ॥६२॥

इति पंचाणुव्रत समाप्यते। अथ तीन गुण व्रत कथ्यते।
दिशा अरु विदिशा जानहु वीर,
संख्या कीजै धरि व्रत धीर।
प्रथम अणुव्रत एहु सुजान,
पुनि तुम देस करहु प्रमाण ॥६३॥
व्रत आचार की यात्रा छीन,
तहीं देश नही जाय प्रवीन।
द्वितीय गुणवत जातें बढ़ै,
धरि संतोष धर्म अति बढ़ै ॥६४॥
पृथ्वी खोद करै बहु पाप,
जल अति डारि करै संताप।
वायु अग्नि प्रज्वालै घनी,
काटि वनस्पति हिंसा जनी ॥६५॥
झूठ वचन चोरी पर नारी,
बहु आरम्भ करै मन धारि।
क्रोध लोभ माया मद जान,
विकथा विकगान विषैं रति मानि ॥६६
ए सब अवर अनर्थ जु दंड,
कहि गुरु पास लेइ तहं दंड।
तृतीय गुण व्रत यातें लहै,
अनर्थ दंड यह जिनवर कहै ॥६७॥
समता सब सों संयम भाव,
धर्म ध्यान इक चित में लाव।
सहइ परीषह दृढ़ धरि चित्त,
जिन पद जपैं करैं सब नित्त ॥६८॥
तीन काल सामायिक धरै,
दोय घड़ी करि पातक हरैं।
सामायिक भव्य जीव लौ लावै,
मध्यम ग्रैवेयक पद पावै ॥६९॥
भव्य जीव सामायिक साधि,
नियमा करि जिनवर आराधि।

जो फल लहै अनंत सुख राशि,
मुक्ति वधू तहं होइ उदासी ॥७०॥
एक नाम जिन जीवन जप्यौ,
पाप राशि तिन छिण में खप्यौ।
स्वर्ग लोक लहै सुख की खानि,
सामायिक फल को कहै बखानि ॥७१॥

दोहा—सामायिक इक चित्त दै, धरै भव्य निज हेत।
प्रथम शिक्षाव्रत सो लहै, जिनवर कहै सुचेत ॥७२

चौपाई—सातैं तेरस शुद्ध आहारी,
एका भक्ति करै साचारी।
पुनि प्रोषध धावै जिन पास,
ग्रह आरम्भ तजै सब आस ॥७३॥
खाद्य स्वाद्य पिय लेप आहार,
चार प्रकार तजै व्रत धार।
कंद मूल फल फूल जे पान,
इन्हें न लीजै हाथ सुजान ॥७४॥
स्नान तिलक आभूषण वस्त्र,
गमनागमन तजै सब अस्त्र।
विकथा राग दोष परिहार;
संयम भाव धरै तजि नारि ॥७५॥
आठैं चौदश प्रोषध करै,
हिंसा कर्म सबै परिहरै।
जिनकी भक्ति कर दृढ़ चित्त।
धर्म ध्यान सों कीजै मित्त ॥७६॥
रात दिवस निर्मल परिणाम,
इह विधि प्रोषध लेहु सुजान।
पूनौं अमावस नौमी होइ,
एका भुक्ति करौ पुनि सोइ ॥७७॥
सोलह पहर जु प्रोषध शुद्ध,
उत्तम प्रोषध कहौ सुबुद्ध।
चौदह पहर प्रोषध तुम जानि,
मध्यम प्रोषध कहौ बखानि ॥७८॥
द्वादश प्रहर जु प्रोषध लीन।
जघन्य जु प्रोषध कहौ प्रवीन।
यथा शक्ति जो प्रोषध करै,
पाप पुञ्ज जो छिन में हरै ॥७९॥

दोहा—नियम सहित प्रोषध करै, हिंसा कर्म निवारि।
देव लोक पद जो लहै, सकल दोष दुख जारि ॥८०॥

अथ अतिथि संविभाग व्रत—
घड़ी छह दिनु चढ़इ जु जबही,
द्वारा पोषण करै भव्य तबहीं।
मुनि को पाय देइ शुभ दान,
निर्मल भाव करै शुभ ध्यान ॥८१॥
पुनि पाछै निज भोजन करै,
इह विधि नियमा व्रत को धरै।
जो मुनि दान बनै नहीं जोग,
ता दिन रस त्यागी सब भोग ॥८२॥

दोहा—यह विधि दिन दिन व्रत करै, धरै नियम दृढ़ जानि।
तृतीय शिक्षा व्रत सो लहै जिनवर कही बखानि ॥८३॥

अथ देशावकाशिक कथ्यते—
भोग उपभोग की संख्या लेइ,
दया दान सबही कों देइ।
पुनि जिन मन्दिर रचै अनूप;
तहाँ धर्म अति बढ़ै स्वरूप ॥८४॥

सोरठा—जातैं धर्म जु होइ सो विधि कीजै भाव सौं।
देशावकासिक सोइ, सज्जन करहु सयान सौं ॥८५॥

अथ बारह तपः—
बारह तप सुन श्रेणिक धीर,
जातैं होइ कर्म तै कीर।
तप तें जरैं काम प्रचण्ड,
इन्द्रियनि विषै लगे तहं दण्ड ॥८६॥
जैसे अग्नि में सोनो (स्वर्ण) शुद्ध,
त्यो तपते जीव होइ सुबुद्ध।
स्वर्ग लोक होय तप तें नाथ,
मोक्ष कामिनी इच्छा साथ ॥८७॥
सेवा देव करैं कर जोडि,
तपतैं विघ्न गलै बहु कोडि।
केवल लब्धि मिलै सुख आय,
कीर्ति रहै चहुं दिशि छाय ॥८८॥
सो तप छह बाहिज (बाह्य) हितकारी,
अनशन प्रथम धरै साचारी।

भोजन त्याग जो प्रोषध करै,
सो तप अनशन जिनवर कहै ॥८९॥
अल्प अहार करै जु एक बार,
तप यह ऊनोदर (आमोदर्ज) सुसार।
नियम सौं गिन वस्तु जुलेई,
वस्तु सख्या ता सब सुख देई ॥९०॥
नीरस भोजन लेइ विचारि,
रस त्यागं व्रत यह दुख जारि।
आसन शयन जु न्यारे करै,
विविक्त शैयासन मन तप कौं धरै ॥९१॥
देह जान बहु दुख को गेह,
यही जानि पुनि तजो सनेह।
बहुत कष्ट करि देह जु क्षीण,
कायक्लेश तप कहै प्रवीण ॥९२॥
छह तप मुनि अभ्यन्तर राय,
बहुत भेद जिन कहै बताय।
व्रत तप मन वच काय जु कियौ,
निज गुरु धर्म साक्षि (साखि) लियौ ॥९३॥
जो कबहु व्रत भगहि लहै,
पुनि गुरु पास आनि सो कहै।
जे गुरु सीख देहिं हितकारी,
पूजा जाप उपास विचारि ॥९४॥
इन कर मल सोधै निज हेत,
प्रायश्चित्त तप कहऊ सुचेत।
दर्शन ज्ञान चरित्र जु करै,
वीर्य सु तप करि पातक हरै ॥९५॥
ताकौ विनय करै मनु लाइ,
यह तप विनय महा सुख दाइ।
जे मुनि व्याधि जरा कै लीन,
तप करि देह भई तहं क्षीण ॥९६॥
ताको पथ्य जु औषधि दान,
सुश्रूषा करि राखो मान।
इह विधि बार बार दृढ़ चित्त,
यह जानो तप वैयावृत्त ॥९७॥
जिनवर वाणी पढ़ै सुसार,
बार बार पूछौ हितकार।
अनुप्रेक्षा द्वादश जिन कही,
ते जु विचारै दिन दिन सही ॥९८॥
आगम विचारि कही सो लेइ,
धर्म उपदेश सदा हित देइ।
यह स्वाध्याय पंचविधि भेद,
स्वाध्याय तप भव दुख छेद ॥९९॥
कायोत्सर्ग नियम मन लावै,
पद्मासन कर निज तनू पावै।
सहै क्लेश विकलता नाखि,
कायोत्सर्ग तप यह जिन साखि ॥१००॥
ध्यान पदस्थ पिंडस्थ बखानि,
अरु रूपस्थ कहो गुण वाणि।
रुपातीत ध्यान शुभ शुद्ध,
ध्यान महातप कहो सुबुद्धि ॥१०१॥
जो द्वादश तप मन दै करै,
भव सागर सो लीजै तरै।
स्वर्ग लोक पद लहै सुजान,
सो पुनि जीव लहै निर्वाण ॥१०२॥
इति तप वर्णन।

अथ सामायिक क्रिया—
दोहा—सामायिक क्रिया कही, शिक्षाव्रत मे जानि।
फिर वर्णन नहीं कीजिए, यह जिन वचन प्रमाण ॥
(अपूर्ण) १०३॥

—शाहदरा दिल्ली-३२

धर्म का मूलाधार : आस्था या अंधास्था

□ डा० प्रद्युम्न कुमार

धर्म का मूलाधार आस्था है। आस्था के ही लगभग पर्यायवाची शब्द श्रद्धा और विश्वास भी है। इन शब्दों से मन की एक स्थिति विशेष का बोध होता है जो तर्क शब्द के अर्थबोध से भिन्न है। आस्था एक अनुभूति प्रधान मनः स्थिति है जिस से व्यक्ति का चारित्र एक निश्चित दिशा, आकार, प्रकार ग्रहण करता है। यह मन की व्यक्ति प्रधान दशा है, जिस में व्यक्ति के ज्ञान, भाव तथा चारित्र तीनों का समावेश है। ज्ञान रूप में आस्था अस्तित्व-बोध है (इदमस्ति), भाव रूप में आस्था अस्तित्व का अहसास है (अहमस्मि), तथा चारित्र रूप में आस्था अस्तित्व की कृतकार्यता है (अयंभूतः)। सम्पूर्ण रूप में आस्था 'मैं होता हुआ हूँ' का अहसास मात्र है। "मैं होता हुआ हूं" का विश्लेषण यूं करें : (मैं=व्यक्ति)+(होता हुआ=उत्पाद व्यय)+(हूं=ध्रौव्य) अहसास=आस्था। अर्थात् आस्था उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् का अहसास है। यह व्यक्ति की धारणात्मक स्थिति है, अस्तित्व के आस्तिक्य-भाव का प्रतीक, जिसकी जड़ें और गहरे कालातीत समाधि शून्य द्रव्यत्व में फैली होती हैं। यह आत्म-बोध की दिशा में उन्मुख मनः स्थिति है। यह एक प्रकार से अपने द्वारा अपनी ही पहचान की द्योतक स्थिति है। फिर जब यह स्थिति किसी इतर तत्व से जुड़ती है तो यह श्रद्धा हो जाती है। यानी यदि आस्था को स्वगत कहें, तो श्रद्धा को वस्तुगत मनः स्थिति कह सकते हैं। आस्था का साधन और साध्य दोनों ही स्व है, तो श्रद्धा का साध्य स्वेतर है। आस्था अपने में अपने लिए होती हैं, तो श्रद्धा अपने में दूसरे के लिए होती है। श्रद्धा के लिए किसी श्रद्धास्पद की जरूरत है। आस्था के लिए किसी आस्पद की आवश्यकता नहीं। श्रद्धा में हम कहते हैं, कि हमें राम, कृष्ण, बुद्ध, तीर्थंकर पर श्रद्धा है। आस्था में हम इतना ही कहते हैं कि हमें धर्म में आस्था है, धर्म यानी स्वभाव में आस्था। अब दूसरा पर्यायवाची शब्द आया विश्वास। विश्वास शब्द का शब्दार्थ पिछले दोनों शब्दों के शब्दार्थ से कुछ अस्पष्ट है। मोटे रूप में विश्वास को आस्थाजन्य मनः स्थिति की बाह्योन्मुख व्यवहार दशा कह सकते हैं। विश्वास में व्यक्ति की अपनी पहचान दूसरे की आँखों से होती है। व्यक्ति अपने को देश-काल-परिस्थिति में रख कर पहचाने, तब वह आत्म विश्वासी होता है। दूसरे शब्दों में आस्था की व्यावहारिक दृष्टि विश्वास है। विश्वास में व्यवहार स्तर पर, आस्था और श्रद्धा दोनों का ही अस्पष्ट घोलमेल है। हम चाहते हैं, कि हमें अपने में विश्वास है, साथ ही यह भी, कि हमें राम पर, कृष्ण पर, या अमुक पर विश्वास है; ये तीनों पर्यायवाची शब्द धर्म-चर्चा में प्रयुक्त होते हैं, इस लिए इन के शब्दार्थ को समझना जरूरी था।

अब, आइए, अपनी धर्म-व्याख्या में आगे बढ़ने से पूर्व एक शब्द का अर्थ और स्पष्ट कर लें। वह है तर्क। तर्क मन के ज्ञान पद की विकल्पात्मक स्थिति है। किसी माने या पहचाने आधार से किसी इतर निष्कर्ष पर पहुंचना तर्क है। दूसरे शब्दों में किसी मान्य आधार का रहस्योद्घाटन करना तर्क अथवा ऊहा होती है। इस में मन एक नियोजित प्रक्रिया अपनाता है जिस में स्व पर द्रव्यों को उनके अंगों में तोड़ कर उन्हें समझा या पहचाना जाता है। तर्क का अधिष्ठान बुद्धि है, जो मन का ही एक रूप है। बुद्धि पहले अस्ति को नास्ति करती है, तब अस्ति; और नास्ति को जोड़ कर वस्तुसत्य को समझती है। फिर वह अस्ति नास्ति की सीमा को परख कर उस के सीमातीत द्रव्य पर निगाह डालती है तो वह अवक्तव्य के क्षेत्र में आ जाती है। एवं अस्ति+अवक्तव्यं, नास्ति+अवक्तव्य अस्ति+नास्ति अवक्तव्य रूप के संभी-करणों की उत्कर्षना कर उस सत्य को पहचानने की कोशिश करती है जिसे

आस्था ने सहज ही आत्म-दर्शन रूप भी लिया था। इस प्रकार आस्था आस्तिक्य है, तो बुद्धि नास्तिक्य। धर्म मूलत: आस्तिक्य-भाव के वाहन पर चलता है, किन्तु बुद्धि के नास्तिक्य मूल्यांकन से समंजन करता हुआ।

आस्था और तर्क एक ही मन की दो भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं। आस्था सत्त्व की पहचान है तो तर्क सत्-इदम् का मूल्यांकन। दोनों का परस्पर सम्बंध और असम्बंध है। जब आस्था का उदय तर्क के बिना ही होता है, तो वह तर्कहीन आस्था है। जब वह तर्कसह हो तो वह प्रबुद्ध आस्था है। जब आस्था तर्क की सीमा लांघने के बाद उदित हो, तो वह तर्कातीत अथवा अनिर्वचनीय आस्था हुई। पहले क्रम में आस्था दूसरे से पाई सूचना से उत्पन्न हो या खुद के बाह्य प्रत्यय से, जैसे किसी ने कहा, ईश्वर है और हम ने मान लिया, इंग्लैंड में टेम्स नदी है और हम ने मान लिया। यह तर्कहीन आस्था वास्तव में आस्था नहीं विश्वास है, जिस के उगने के न तो पहले तर्क हुआ न बाद में। ऐसा विश्वास अंध विश्वास भी कहला सकता है। अंध विश्वास को यदि आस्था कहें तो वह आस्थाभास है, सदास्था नही। अंध विश्वास में कोई अनुभूति नहीं होती। केवल बाह्य से सूचना मिलती है, जिसे हम बाहर से आया ज्ञान कहें और उसे हम बिना ननु नुच के मान लें। ऐसे विश्वास में हम आस्था शब्द का प्रयोग प्राय: नही करते। यदि करें भी तो वह शब्दो का फेर है। सम्प्रदायों और अन्य सामाजिक संस्थाओं की भीड़ अंध-विश्वास पर ही पलती है। सच पूंछो, तो अंधविश्वास भीड़ की ही धरोहर है। यही से शुरू होती है मदांधता, फैनेटिजिज्म: चाहे वह धर्म के किसी सिद्धान्त के नाम पर हो, या किसी श्रद्धेय व्यक्ति के नाम पर, या किसी अन्य के नाम पर। मदांधता मदांधता ही है। वह धर्म-सम्प्रदाय, राजनैतिक पार्टी, साहित्यिक संस्था, सामाजिक संघ, वैज्ञानिक मंच, कहीं पर भी किसी के नाम पर हो सकती है। यह एक प्रकार का नशा है जो किसी व्यक्ति या सिद्धान्त से सम्मोहन द्वारा व्यक्ति या व्यक्तियों की भीड़ के गले उतारा जाता है। वह व्यक्ति या समूह सम्मोहित हो कर कुछ भी करणीय अकरणीय करने को तैयार हो जाता है। धर्म में चूंकि इन्द्रियातीत सत्ताओं के प्रति विश्वास जगाया जाता है, अत: धर्म के क्षेत्र में अनुभूति शून्य अंध विश्वास अधिक खतरनाक बन जाता है। क्योंकि उस का प्रबुद्धी करण आसानी से नही हो पाता।

जब हम किसी सूचना या बाहर से आए ज्ञान की जांच कर लेते हैं और उसे तर्क की कसौटी पर कस लेते हैं और उसे ठीक पाकर या ठीक के समीप पा कर विश्वास करते हैं तो वह विश्वास प्रबुद्ध हो जाता है। आगे चल कर जब उस प्रबुद्ध विश्वास मे हमारी अनुभूति का तत्व जुड़ जाए तो वह प्रबुद्ध आस्था की कोटि में आ जाता है। प्रबुद्ध विश्वास विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में मिलता है। विज्ञान में हम पहले किसी आभासिक सत्य की प्राक्कल्पना कर तथ्य संकलन करते हैं। तथ्यो का विश्लेषण, संश्लेषण और सामान्यी करण की प्रक्रिया करते हुए हम अंतत: उक्त प्राक्कल्पना की पुष्टि या निरस्ती करण कर देते हैं। यह होता है किसी इन्द्रियजन्य ज्ञान से उत्पन्न आभास या विश्वास का प्रबुद्धी करण। ऐसा प्रबुद्ध विश्वास अंध विश्वास से कम खतरनाक होता है। फिर भी खतरा इस में भी है। खतरा इस लिए, कि वैज्ञानिक तर्क-प्रक्रिया की भी अपनी सीमाएं हैं। वे सीमाएं निगमन और आगमन दोनों तर्कों में निहित हैं। निगमन का सत्य माने हुए आश्रयवाक्य की सीमा है, तो आगमन मे इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा। वे गलत हो सकते हैं, अधूरे सत्य भी हो सकते हैं। किन्तु वैज्ञानिक प्रणाली से सत्यापित निष्कर्षों को विज्ञान का विद्यार्थी सर्वांग सत्य समझ बैठता है और उसे सार्वभौमिक तथा त्रैकालिक सत्य के सिंहासन पर बिठाल कर उसमें विश्वास स्थिर कर देता है। पहले जो विश्वास प्रबुद्ध था आगे चल कर वह अंध विश्वास का रूप धारण कर लेता है और उस में अंध विश्वास के सारे खतरे पैदा हो जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि विज्ञान के निष्कर्ष सदैव सम्भाव्य सत्य के ही द्योतक हैं, पूर्ण और त्रैकालिक सत्य के नही। इसी लिए तो विज्ञान की प्रयोगशालाएं सदैव चालू रहती हैं और प्रत्येक स्थापित सत्य का बार-बार मूल्यांकन और सत्यापन होता रहता है। ऐसा करने से ही वैज्ञानिक निष्कर्षों असत्य का विश्वास प्रबुद्ध कोटि में रह सकता है। प्रबुद्ध चेता वैज्ञानिक इस खतरे से अवगत हैं और वे बड़ी ईमानदारी से अपनी प्रविधि की

सीमाएं कबूल करते हैं तथा उदारचित्त से उन निष्कर्षों के विपरीत निष्कर्षों को भी आदर देकर प्रविधि की कसौटी पर ले आते हैं। ऐसी अभिवृत्ति से ही हम विज्ञान के क्षेत्र में अधविश्वास के दूषण से बचते हैं और बच सकते हैं।

अब हम आते हैं दर्शन के क्षेत्र में पाले गए विश्वास के बारे में। दर्शन एक प्रकार से हमारे सम्पूर्ण चिंतन के आधारों की जाच परख है, तौल खोज है। इस जाच परख की भी एक प्रणाली है जो वैज्ञानिक तर्क प्रणाली से कुछ अधिक विकसित है। दर्शन की तर्क प्रणाली विज्ञान की तर्क प्रणाली की भी खोज खबर लेती है तथा उस की क्षमता, अक्षमता तथा सीमाओं का निर्धारण करती है। दार्शनिक प्रणाली से ही तो प्रेरित होकर शुद्ध वैज्ञानिक यह कह पाता है कि उसके निष्कर्ष मात्र सम्भाव्य सत्य का उद्घाटन करते हैं। पूर्ण सत्य उनकी पकड़ में नहीं है। वह केवल आंशिक सत्य का ही उद्घाटक है। तो क्या दार्शनिक तर्क प्रणाली पूर्ण सत्य की उद्घाटक है। नही। सच पूंछा जाए, तो दर्शन सत्य का उद्घाटक है ही नही। वह तो विभिन्न प्रणालियों द्वारा उद्घाटित सत्य या सत्यों का आकलन करता है तथा उस सत्य को व्यक्त करने वाली भाषा की स्पष्टता और अस्पष्टता का विश्लेषण करता हुआ अधिक से अधिक भाषागत स्पष्टता पर जोर देता है। सत्य की खोज करना दर्शन का काम नहीं है। सत्य की खोज या तो सामान्य प्रत्यक्ष (कामनसेंस) करता है या विशिष्ट प्रत्यक्ष (विज्ञान) या धर्म या अध्यात्म। सामान्य तथा विशिष्ट प्रत्यक्ष गुणात्मक रूप से एक ही धरातल पर होते हैं। उन का आधार इन्द्रियजन्य ज्ञान है। उन से ऐंद्रिक सत्य ही मिलता है, जिस की अपनी सीमाएँ हैं और जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। धार्मिक अनुभूतियों का कैनवास अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है, 'जिस का उल्लेख आगे किया जाएगा। सम्प्रति इतना ही कहना है, कि विश्वास वही होता है जहां सत्य की अनुभूति का क्षेत्र है। अब यह दूसरी बात है कि अनुभूति उगे कैसे! स्वतः उगे, दूसरे के प्रभाव से उगे या मात्र सूचना से उगने का आभास हो। बहरहाल, किसी न किसी मात्रा में अनुभूति का होना जरूरी है विश्वास और आस्था के लिए।

प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के पीछे अनुभूति विश्वास जरूर होता है। वस्तुज्ञान की परिभाषा में भी कहा जाता है कि हमारा वस्तुज्ञान तभी वैध ज्ञान है जब वह वस्तु के अनुरूप हो और जिस के अनुरूप होने का हमें विश्वास भी हो। यदि अनुरूपता से सम्बंधित विश्वास हमारे मन में नहीं है तो वह ज्ञान नहीं होगा। सच पूंछो, तो वस्तु के अनुरूप हमारी चेतना की अनुभूति स्वतः होती है, जिस अनुभूति के होने के बारे में हमें किसी से पूंछना नहीं पड़ता, अपितु हम उसके होने के बारे में स्वतः आश्वस्त होते हैं। यह आश्वस्त होना ही हमारा विश्वास है। जब हम इस विश्वास के बारे में अवगत हो जाते हैं तो वह विश्वास वस्तुज्ञान बन जाता है। इसलिए प्रत्येक वस्तुज्ञान में पहले से ही तत्सम्बंधी विश्वास निहित होता है। चूंकि यह अनुभूति इन्द्रियों की सीमित क्षमता से उत्पन्न होती है, इसलिए इस ज्ञान का सत्य अंशव्यापी तथा अंशकालिक होता है। सत्य का इस प्रकार से आकलन करना ही दर्शन का कार्य है।

अब हम धर्म के क्षेत्र में घुसें। धर्म सत्य के भी सत्य यानी परम सत्य का अन्वेषक एवं उद्धारक है। स्वाभाविक है कि सत्यान्वेषण अनुभूति की अपेक्षा रखें। अनुभूति भी किसकी! अपने ही होने की, अपने अस्तित्व की। अपने अस्तित्व की अनुभूति ही सच्ची आस्था है। इसलिए आस्था ही धर्म का मेरुदण्ड है। आस्था होती है। यह न कोई देता है और न दे सकता है। हां, बाहरी कोई उपस्थिति उसके लिए निमित्त हो सकती है, किन्तु उपादान कारण स्वानुभूति ही होती है, जो कर्म-क्षय या भगवत उपासनाका फल हो सकती है। इस आस्थामें इन्द्रियों की भी अपेक्षा नहीं होती और न इंद्रियजन्य तर्कप्रणाली की। आस्था इन्द्रियातीत तथा तर्कातीत स्वानुभूति है। यह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक व्यापक सत्य का उद्घाटन करती है जिसका आकलन इन्द्रियजन्य तर्कप्रणाली का दर्शन भी नहीं कर पाता। वह भी उसे "नेति-नेति" ही कह देता है, और उसे अनिर्वचनीय ख्याति की कोटि में रखकर एक ओर हट जाता है। इस प्रकार

धार्मिक आस्था स्वत: एक दर्शन है, सम्यग्दर्शन, जो सारे बौद्धिक दर्शनों का नियामक और दृष्टा होता है।

सम्यग्दर्शन से ही फूटती है सम्यग्श्रद्धा, जो विराट सत्य के प्रति व्यक्ति को समर्पित करने की प्रेरणा करती है। सम्यक् श्रद्धा से ही व्यक्ति और व्यक्ति-समूह विराट सत्य की सन्निधि के हेतु धार्मिक अनुष्ठानादि के लिए प्रेरित होता है। कहने का तात्पर्य यह, कि श्रद्धा आस्था की ललक है जो व्यक्ति के चारित्र को कारण देती है और उस चारित्र को विराट सत्य के प्रतीक किसी भी इष्ट-विन्दु की ओर उन्मुख कर देती है। श्रद्धा के द्वारा व्यक्ति की आस्था श्रद्धास्पद इष्ट से जुड़ जाती है और उस में से परम भक्ति का दर्शन बोलने लगता है। भक्ति में आस्था और श्रद्धा का संगीत झकृत हो उठता है। आत्म श्रद्धास्पद इष्ट में भाव विभोर तन्मय हो कर नाचने लगता है। वह आत्म-विस्मृति के द्वारा समाधि अवस्था की ओर अग्रसर हो जाता है, जो कि धर्म का चरम साध्य है।

धर्म-दर्शन की प्रविधि वैज्ञानिक प्रविधि से भिन्न है। धर्म का अनुभूति-जगत इन्द्रियो की सवेदना से पैदा नही होता। बल्कि उल्टी इन्द्रिय-सवेदना धार्मिक अनुभूतियो के मार्ग में बाधा है। उसे शून्य करने के बाद ही धर्म के क्षेत्र मे आगे बढ़ा जाता है। उस क्षेत्र की अनुभूतिया स्वत: सत्यापित होती हैं। उस की प्रविधि अत: साक्षात्कार है जो इन्द्रिय साक्षाद् से सर्वथा भिन्न है। वैज्ञानिक प्रविधि धार्मिक अनुभूति के विषय का सत्यापन नही कर सकती। धार्मिक अनुभूति-जगत मनोमय कोष से इतर विज्ञानमय कोष, फिर उससे भी आगे आनन्दमय कोष मे स्थित है, जब कि विज्ञान की आगमन और निगमन प्रविधि मोमय कोष से आगे यात्रा नहीं करती। वह मन की सतह पर खड़े होकर ही गहन सागर की गहराई का अंदाजा भर लगाता है, जो अल्प सत्य, अर्द्ध सत्य या कभी कभी असत्य तक ठहरता है। इसलिए धर्म विज्ञान का विषय नही हो सकता। विज्ञान की सतही दृष्टि में धर्म-चर्चा एक बड़ा धोखा है, फाड है, क्योंकि वह विज्ञान की तर्कप्रणाली से संगत नहीं हो पाता। किन्तु विज्ञान का इस प्रकार का फतवा देना आत्म प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नही।

उधर धर्म विज्ञान को अपना शत्रु नहीं मानता, क्योंकि धर्म शास्ता विज्ञान की प्रविधि को भी जानता है और उसके सापेक्ष महत्व को स्वीकारता है। वैज्ञानिक तर्क की पूर्वमान्यताएं, स्वयंसिद्धियाँ खुद तर्क की उपज नहीं है। उनका सत्यापन विज्ञान की परिधि से बाहर है। फिर भी वे स्थापित सत्य हैं। आखिर उन की स्थापना का स्रोत क्या है! वह स्रोत निश्चित ही वैज्ञानिक तर्क से परे इन्द्रियातीत अनुभूति-जगत में निवास करता है। जहां से लेकर हम उन्हें इन्द्रिय-सत्यापन की चरखी पर चढ़ा कर बार बार परखते हैं। यह परोक्ष सत्यापन हम केवल अपने चकित मन के संशय को मिटाने के लिए करते हैं। मन चकित इसलिए है, कि हमें विश्वास ही नहीं हो पाता कि ये स्थापित सत्य स्वत: सत्य कैसे हो गए और हम उन्हें परतः सत्य स्थापित करने मे लगे रहते हैं। किन्तु धार्मिक अनुभूतियुक्त मन इन स्वतः स्थापित सत्यों की पुनस्थापना को निरर्थक व्यायाम मानता है, क्योंकि उन का सत्यापन तो अंतःज्ञान की प्रविधि से पहले ही हो चुका था। मैं तो कहूंगा, कि जिन वैज्ञानिकों ने इन स्वयंसिद्धियों और पूर्वमान्यताओं को खोजा होगा वे उन क्षणों मे धर्म के शुद्ध धरातल पर उतर गए होंगे और उन्होने उन्हें उसी धरातल पर अंतःज्ञान की प्रविधि से सत्यापित भी कर लिया होगा अत: ये स्वयंसिद्धियाँ और पूर्वमान्यताएं विज्ञान-जगत को धर्म की ही देन कही जा सकती हैं। धर्म ने विज्ञान को स्वस्थ आधार प्रदान किया है।

अनुभूतियों का सिलसिला भीतर से बाहर की ओर चलता है, बाहर से भीतर की ओर नही। अंतःसाक्षात्कार ही उसकी प्रविधि है। जीने की जिजीविषा भीतर से ही उद्वेलित होती है जो इन्द्रियों की सतह पर आकर मात्र भभूक पड़ती है। देखने की बात है, जब हम इन्द्रिय-साक्षात्कार करते हैं, तो हम उसका स्रोत बाह्य को मान लेते हैं। यदि उस समय हम इन्द्रियों के त्वक् मण्डल को, मस्तिष्कस्थित चेतना-केन्द्र से विच्छेदित कर दें, तो क्या वह साक्षात्करण संवेदना से आगे चल पाएगा। नहीं। फिर उस संवेदना को यदि मस्तिष्कीय चेतना-केन्द्र तक ले जाने दें, किन्तु अपनी ध्यान प्रक्रिया से चेतना को बाह्योन्मुखी न रहने दें, उसे अंतर्मुखी कर दें, तो क्या

वह इन्द्रिय-प्रत्यक्षीकरण ज्ञान का रूप धारण कर सकेगा ! नहीं। और यदि हम किसी भौतिक तकनीक से ध्यान क्रिया पर भी नियंत्रण साधने में सफल हो जाएं और मस्तिष्कीय तंतुओं के प्राण-प्रवाह को वाह्योन्मुखी बना सके, लेकिन व्यक्ति इतना समर्थ है कि वह शरीर के आधार से सर्वथा मुक्त होकर समाधि की तुरीय अवस्था में दीक्षित हो जाए, तो क्या वह इन्द्रिय-स्रोत से आया हुआ स्नायविक प्रवाह ज्ञान का रूप धारण कर सकेगा ! इसका भी उत्तर नकार में ही होगा। तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि समाधि-अवस्था का शुद्ध चैतन्य ही जब मास्तिष्क तंतुओं में संचरित होकर वाह्योन्मुख ध्यान से इन्द्रियों के आखिरी विन्दु तक वैद्युतिक चुंबकीय अंत-धारा के द्वारा प्रसरित हो जाता है, तभी और केवल तभी वाह्य उत्तेजन की संवेदना चल कर ज्ञान और धारणा के स्तर तक पहुंच पाती है। ज्ञान की भीतरी शर्त प्रमुख है। इस भीतरी शर्त पर वाह्य का कोई नियंत्रण नही है, बल्कि अंतरंग की ही वाह्य पर कृपा है कि वह स्वाधीन चरित्र होते हुए भी अनादि से किसी अनजानी मजबूरी में फँसा हुआ शरीर रचना के जाल में बद्ध है। यही उस का कर्म बंधन है। इस बंधन को आत्म काट फेंकना है जब उसे भेद विज्ञान का सुअवसर प्राप्त हो जाता है और वह आत्मचेतन हो कर वाह्य से निवृत्त हो अपने शुद्ध स्व-रूप में दीक्षित हो जाता है। जब तक वह अवसर उदित नहीं होता, तब तक इन्द्रियो की प्रविधि जोते हुए उस पर सवार रहती है और उसके द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों को अपना कहती रहती है। बहरहाल, बस्तु स्थिति जो है सो है। धर्म-क्षेत्र की आस्था विज्ञान की अमूल्य धरोहर है चाहे विज्ञान उस धरोहर के मूल्य को सराहे या न सराहे, क्योंकि वह यूं ही सहजत: उपलब्ध हो गई है न ! इसलिए घर की मुर्गी दाल बराबर।

विज्ञान का सत्य ऐकान्तिक सत्य है, क्योंकि वह दिक्काल-परिस्थिति के समीकरण पर आधारित है। उस की प्रविधि दिक्काल की अपेक्षा लेकर चलती है। इस लिए उसका निष्कर्ष दिग् काल के विशेष विन्दु की सीमा से बँधा हुआ रहता है और उस का सत्यापन भी दिक्काल सापेक्ष स्थिति विशेष से ही होता है। धर्म का सत्य अनेकांतिक है, क्योंकि वह दिक्काल की सीमा से परे अंत: ज्ञान की व्यापक प्रविधि से प्राप्त है। उसकी दृष्टि निरपेक्ष है, दिक्काल की पहुंच से दूर। इसलिए विज्ञान के ऐकान्तिक सत्य की गरिमा इसी में सुरक्षित है कि वह धर्म के अनेकान्तिक सत्य से मंडित रहे। एक ओर अनन्त विस्तार, तो दूसरी ओर सान्त परिधि और उसका सीमित उपयोग। जैसे विगंत में बहती हुई मुक्त बयार वायु चक्की के पंख में फँस कर कुछ काल के लिए उपयोगी हो जाए और फिर अनन्त आकाश मे मुक्त हो जाए। उसी प्रकार आस्था के मुक्त आकाश में चैतन्य की अनन्त आयामी ऊर्जा राशि कुछ काल के लिए विज्ञान की किसी उपयोगी यंत्र-विधि मे फंस कर कुछ हो जाए या कर दे और फिर मुक्त हो कर स्वाधीन हो जाए। एव विज्ञान धर्म का मुखापेक्षी है। धर्म के बिना वैज्ञानिक तकनीक सजनशील नही रह सकता। धर्म ही वैज्ञानिक मेधा को सृजनशीलता प्रदान करता है। दृष्टव्य है, यहां धर्म से मतलब सम्प्रदाय-संगत क्रियाकाण्ड आडंबर नहीं है। वह व्यक्ति भी धार्मिक हो सकता है, और शायद वह अधिक होता भी है, जिस ने किसी मंदिर मस्जिद की शक्ल नही देखी है और जो सदैव पूर्ण निष्ठा से सत्य को समर्पित रहा है। धर्म का क्षेत्र सारी उपाधियों से मुक्त निरपेक्ष लोक है, जिस में केवल विराट ईश्वर का शासन है। वह ही वहा है। उस के अतिरिक्त कुछ नही, परिपूर्ण अद्वैत सत्।

सम्प्रदायो में, जैसा कि पहले कहा गया, अंधविश्वास अधिक पलता है। धार्मिक ग्रंथों का नित्य पारायण, मात्र सूचना है। शाब्दिक पूजा अर्चा क्रियाकाण्ड, कीर्तन सब वाह्य प्रेरित भावोद्वेग मात्र जगाना है और अपने को धर्म से जोड़ने का बहाना भरना है। किन्तु यह सब वास्तविक धर्म-अनुभूति के बिना कोरा आडम्बर है और धर्म-विरुद्ध भीड़वाद है। भीड़वाद धर्म का शत्रु होता है। वह धर्म नहीं, धर्माभास में पलता हुआ विश्वास जो संस्थागत धर्म-सम्प्रदाय के प्रतीकों, नारों गुरुओं, ग्रंथों आदि के प्रति श्रद्धा बन कर उमड़ पड़ता है वह केवल अंधविश्वास और अंधश्रद्धा होती है अंधविश्वास और श्रद्धा दोनों धर्म और मानवता के लिए नुकसानदेह हैं। इसी अंधविश्वास पर यथाकथित धर्म-युद्ध, जिहाद और

क्रुसेड छेड़े जाते है और गर्हित नरसंहार होते रहे है। यह सब धर्म-भावना के ही विरुद्ध है और उसी धर्म की जड़ खोदते हैं जिसकी ये जय बोलते हैं। मैं यह नहीं कहता कि पूजा, अर्चा, नमाज, रोजे, ग्रथपारायण, कीर्तन आदि बुरी बातें हैं, किन्तु ये अच्छी और उपादेय तभी हैं जब इन के पीछे वास्तविक धर्म-अनुभूति छिपी हो, सही रूप में ईश्वर या अल्लाह से जुड़ी आस्था बैठी हो और उसी से सहजत. फूटी हो। बिना आस्था और अनुभूति के ये सब बुरी तो नहीं, लेकिन निरर्थक जरूर है। आस्था अधी नही होती। उस मे ईश्वरीय प्रकाश उद्दीप्त होता है। इसलिए आस्थाजनित पूजा अर्चा अधी नही होती और वह व्यक्ति और समूह के लिए हितकर होती है। किन्तु विशेष बात यह है कि आस्था व्यक्तिगत स्तर पर ही हुआ करती है, समूहस्तर पर नहीं। समूह मे आस्थाभास होता है। इसलिए समूह के कधों पर चलने वाला धर्म अधा ही होता है। सच्चा धर्म व्यक्ति ही पालता है, वह भी समूह या भीड़-भावना से अलग हो कर। हां, अधिक से अधिक यह हो सकता है कि समूह स्तर पर पाली गई धार्मिक क्रिया-काण्ड का आधार अधविश्वास न हो, प्रबुद्ध विश्वास हो, लेकिन यह भी तभी हो पाता है जब धर्म का आस्था सस्थागत धर्म के नियमों को सावधानी पूर्वक लागू करवाए और दीक्षित व्यक्तियों की सही ढग से परख हो। जिहाद और धर्म-युद्ध तो प्राय: उन्माद ही पैदा करते रहे हैं। पैगम्बर मुहम्मद के बाद जितनी जिहादें हुई वे सब की सब शुद्ध-रूपेण युद्धोन्माद थे। सिक्ख गुरू गोविंद सिंह के बाद कोई भी धर्म-युद्ध युद्धोन्माद के अलावा और कुछ नहीं रहा। इसलिए धर्म-शास्ताओं को भी धर्म के नाम पर युद्ध छेड़ना वाजिब नही है। और यदि वे देश-काल की मजबूरी के कारण कभी सशस्त्र युद्ध छेड़ते भी हैं तो वह उन्हीं तक सीमित रहना चाहिए, उसे परम्परा में नहीं डालना चाहिए। वरना उनके अनुयाइयों की भीड़ उस का दुरूपयोग जरूर करती है। इतिहास में ऐसा होता भी रहा है। भीड़वादी उन्माद में पड़ कर कोई धर्म परम मागल्य का वाहन नही करता। भीड़ सदैव ही अध विश्वासों की वाहिका होती है।

यह नही, कि अंधविश्वास और मदांधता केवल धर्म के ही क्षेत्र में होती हो, वह धर्म के अतिरिक्त क्षेत्रों मे भी समान रूप से दृग्गोचर होती है। मदांधता अपने लिए अच्छे अच्छे नारों का बहाना ढूढती रही है, जब जो मिल जाए। गजनी के महमूद को अपनी मदाधताजन्य लूटमार और हिंसा के लिए इस्लाम का बहाना मिल गया, किन्तु उस के पूर्व हूणों शकों को ऐसा कोई धार्मिक बहाना नही मिला तो भी वे वैसे ही क्रूर रहे। ईरान के अयातुल्लाह खोमैनी को अपनी क्रूरता और हिंसा के लिए इस्लाम ने मुखौटा दिया तो उसी देश के शाह को आधुनिक पूजीवाद से वैसी ही प्रेरणा मिली। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म का अनुयायी चगेज खाँ और हलाकू अहिंसा धर्म की जय बोलता हुआ इतिहास के क्रूरतम विजेताओं मे गिना गया। ईसा प्रेम और करूणा की मूर्ति हुए, किन्तु उनके अनुयाइयों को और कोई नही, उन्ही के उपदेशो मे न जाने कहां से और कैसे हिंसक क्रुसेड करने की प्रेरणा मिल गई, तो सच पूंछो।, मदांधता का कोई धर्म और ईमान नही होता। वह तो मनुष्य की लिप्साओं और क्रूर हताशाओं की अभिव्यक्ति होती है। धर्म का इस से कोई लेना देना नही। मदांधता ने सस्थागत धर्म अथवा सम्प्रदायो कों, सम्प्रदायों ने वास्तिविक धर्म को बदनाम किया है और शैतान ने ईश्वर का नाम ले कर अपना काम बनाया है। यही आज तक का इतिहास बोलता है। वास्तविक धर्म की उपयोगिता अपनी जगह है। वह रही है और वह रहेगी।

राजकीय इण्टर कालेज राम नगर (नैनीताल)

हिन्दी जैन-काव्य के अज्ञात कवि

□ डा० गंगाराम गर्ग

हिन्दी का मध्यकालीन जैन-काव्य अपनी 'रीति'-विरोधात्मक प्रकृति तथा समृद्धि दोनों ही कारणों से बड़ा महत्वपूर्ण है। किसी लोभ-लालच अथवा दबाव के कारण न लिखे जाने के कारण उसमे सहजता भी है। शोध-विद्वानो द्वारा अनेक काव्य-कृतियां प्रकाश मे ला देने के पश्चात् भी ऐसे कवि कम नही होंगे जिनकी काव्य-कृतियां आज भी प्रकाश नही देख पाई हैं। राजस्थान के प्राचीन जैन-स्थल कामां और दीवान जी मन्दिर भरतपुर में प्राप्त पूर्णतः अज्ञात कवियों एव रचनाओं का परिचय इस प्रकार है—

(१) **वर्द्धमान**—वर्द्धमान कृत 'बाहुवलि रास' एक सुन्दर खण्ड काव्य है। ग्रंथ का प्रारम्भ सरस्वती और गणधर की वन्दना से हुआ है। आदिनाथ के दोनों पुत्रों भरत और बाहुबलि का जन्म, दिग्विजय के प्रसंग में भरत का चक्र नगर मे प्रविष्ट न हो पाना अपयश और कुल-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए बाहुबलि द्वारा भरत की आधीनता स्वीकार न करना आदि सभी प्रसग मनोरम हैं। बाहुवलि के मुष्टि-प्रहार में उनकी अद्भुत वीरता के दर्शन होते हैं—

निहचै जाणयो काल भरत जब आगे आये।
मुष्टिकाज ही उठाय, बहौत मन में दुःख पायो।
इन्द्र सुदामा आय कै; पकरी भूदज आय।
जीवदान बकसो बाहुवलि, देओ भरत को काय।
सुणौं अति भाव सो. २०॥

पारस्परिक युद्ध से विरक्त भरत और बाहुवलि दोनों भाई तथा ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहिनें आदिनाथ के समवशरण में पहुंचते हैं। समवशरण की रचना देखकर दोनों भाई आदिनाथ के चरण-कमलों का ध्यान धरते हैं।

(२) **राम कृष्ण 'विरक्त'**—इनकी तीन रचनाएं मिलती हैं। परमार्थ जखड़ी, त्रिलोक पूजा एवं नौकार महात्म्य की ढाल। त्रिलोक पूजा की प्रशस्ति के अनुसार रामकृष्ण जयपुर निवासी दीपचन्द के पुत्र थे। ये उम्मेद सिंह के शासनकाल मे शाहपुर गए। वहां से रामकृष्ण मालव देश के भडलापुर नगर मे गए। भड़लापुर नगर में उन्होने उस समय जिन पूजा और उत्सवों की बहुतायत बतलाई है। ब्रह्मचारी होने के कारण ये इतना घूमे नौकार माहात्म्य की 'ढाल' मे लेखक ने ऋषभदेव के वैराग्य की कथा एवं उनके पूर्वभवों का वृत्तान्त कहा है। परमार्थ जखड़ी में जन्म-जन्मांतरो के कष्टों से दुःखी कवि मोक्ष का अभिलाषी है—

या विधि इन माही जानें, परिवर्त्तन पूरे कीने।
तिनकी बहु कष्ट कहानी, सो जानैं केवल ज्ञानी।
ज्ञानी बिन दुष कौन जानें जगत बन मैं जो लह्यौ।
जर मरन जम्मन रूप तीखन, त्रिविध दावानल दह्यौ।
जिन मत सरोवर पालकी, बैठि ताप बुझायहो।
जिय मोख पुर की बाट बूझौ, अब न बार लगाय हो।

राम-दर्शन के बीसियों दोहे जैन मन्दिर बयाना (भरतपुर) के गुटके मे सगृहीत हैं।

(३) **सूरति**—जैन कवि 'सूरति' रीतिकालीन कवि सूरति मिश्र से भिन्न हैं। सूरति की बारह खड़ी प्रसिद्ध हैं। जो विभिन्न मन्दिरो के गुटकों में देखने को मिलती है। बारह खड़ी के ४० दोहों और ३६ छन्दों में सप्त व्यसन, गुरु महिमा तथा सदाचार की चर्चा है। काव्य में उद्बोधन के तीव्र स्वर हैं:—

नाना नाता जगत मैं अब स्वारथ सब कोय।
आनि गाढ़ जा दिन परै, कोइ न संगाती होय।
कोइ न सगानी होइ न साथी, जिस दिन काल सतावै।
सब परिवार आपनें सुष कौ, तेरे काम न आवै।
अब तू समझि समझि इस विरियां फिरि पाछे पछितावै।
सूरति समझि होय मत बौरा, फिरि यह दाव न पावै।

(४) केशव पाण्डे—केसव पाण्डे की अद्यावधि प्राप्त रचना 'कलिजुग कथा' है। यह रचना काष्ठा संघ के मुनि ज्ञानभूषण के उपदेश से लिखी गई है। रचना में ४४ छन्द हैं। कलिजुग में चरित्र पतन की स्थिति के बारे में कवि का कहना है—

कलि मैं लरि बड़न है नारी, कलि मैं पूत लरै महतारी।
कलि मैं सौ हर बात है झूंटी, कलि मैं त्रिया पुरुष तैं रूठी,
कलि मैं भांग तामाखू आई, कलि मैं गऊ कृपण दिषाइ।
कलि मैं वृत्त विधान सब षोये, कलि मैं पिता पुत्रकू रोये।

(५) सुन्दर—दादू पन्थी कवि सुन्दरदास से भिन्न जैन कवि 'सुन्दर' का 'दया रासो' एक छोटी रचना होते हुए भी इसलिए महत्त्वपूर्ण कि उसमे बाह्याचार की निंदा की गई है—

जल मैं करि असनान, मसलि तन मैल उतारै।
छापे तिलक बनाय, और गल माला धारै।
तीरथ बड़तो फिरै, गिनै न रेन सवार।
करन सूं परच्यौ नहिं, क्यों पावै भव पार।३।।
कहा धरै सिर जटा, कहा नित मूंड मुंडावै।
कहा धरै बहु मौन, कहा नित भस्म लावै।
पंच अगिन साधै कहा, धूम रहित मब चार।
कृपा हेत जानै न क्यो, शिव लहै गवार।४।।

(६) मनोहर—पण्डित मनोहर के सवैये तेरह पंथी मन्दिर पुरानी टोक के १०२ गुटके में प्राप्त हुए हैं। विभिन्न सवैयों में जैनाचार की शिक्षा के अतिरिक्त कवि ने लोक व्यवहार के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं।

भूष बुरी संसार, भूष सब ही गुन षोवै।
भूष बुरी संसार, भूष सबको मुष जोवै।
भूष बुरी संसार, भूष आदर नहिं पावै।
भूष बुरी संसार, भूष कुल मान घटावै।
भूष गवोवै लाज पति, भूष न राखै कार मैं।
भन रहति 'मनोहर' इम कहै भूष बुरी संसार मैं।

मेक 'मनोहर' के नाम से ११ छद की 'सीष सुगुरु की' एवं १५ छंद की 'ग्यान पच्चीसी' दीवान जी मन्दिर, भरतपुर में उपलब्ध है। *'ज्ञान पच्चीसी'* दीवान जी मन्दिर भरतपुर में उपलब्ध है। 'ज्ञान पच्चीसी' मे कवि ने सांसारिक कष्टों की जानकारी देते हुए ज्ञानोन्मुख होने की प्रेरणा दी है—

संकट बहु उदर मैं रे औंधे मुष लटकाय।
नरक बसै वै दुष सहै रे, तब प्राणी पिछताय।
पिछताय प्राणी वीनवै, औतार द्यो जगदीश जी।
संसार सूं कारण नहीं—तुम तणी सेव करीस जी।
जगदीस जी तब सार कीनी पामियों औतार रे।
संसार मांही भमर भूल्यो, भाड़िया व्योपार रे।
व्योपार करि जाण्यौ नहिं, ये कारण प्राणी दुष सहै।
कहै 'मनोहर' उदर मैं औंधे मुष लटक्यो रहै।

ब्रह्म वेणीदास—दिगम्बर गच्छपति जसकीर्ति के शिष्य ब्रह्मचारी 'बेणु' बाकलीवाल गोत्रिय खंडेलवाल जैन थे। इन्होने 'आनन्दपुर' में पांच परवी की कथा' लिखी जिसमें पांच पर्व व्रत का माहात्म्य, तथा विधि-विधान बतलाया गया है। इसमें ७६ छंद है। कवि की दूसरी रचना 'पोपाबाई की कथा' है जो संवत् १७७८ में लिखी गई। इसमें ५२ छदों में किसी राजा द्वारा *न्याय अन्याय* की स्थिति पर सम्यक् विचार न किए जाने पर व्यंग्य किया गया है। भाषा का नमूना इस प्रकार है—

सोभ बधी सब सहरै की, सुष हूवै सब लोग।
दांन मान महैमा बंधी, हुवो धर्म को जोग।।४७।।
परजा सुष पायो घणू—बढयो धर्म हितकार।
दान पुन्य कीजे भला—जन्म सफल सुषकार।।४८।।

जिनदास:—गोधा गोत्रीय खडेलबाल जैन जिनदास की रचना 'सुगुरु शतक' की प्रशस्ति के अनुसार कवि जयपुर के रहने वाले थे। अपने पिता और पितामह से धार्मिक मतभेद होने के कारण जयपुर से मत्स्य में आए। जिनदास के नाम से एक ५१० छद का बडा ग्रंथ 'जम्बू स्वामीरास' कामां के जैन मन्दिर में उपलब्ध है। परमेष्ठी द शारदा को प्रणाम करते हुए यह रचना दोहा चौपाई छन्दों में सरल भाषा में लिखी गई है। कवि के दोनों ग्रन्थों की भाषा परिनिषित ब्रजभाषा होने के कारण यह कवि 'ब्रह्म जिनदास' से कतई मेल नही खाते—

मात तात सुत भ्रात को न तो जगत की राह।
धर्म न तो एह सिव हैं, जित भावे तित जाव।
जाते मन वच काय ते, सुनो सयाने लोक
धर्म न ताके जनन कु, कबहूं न दीजै ढोक।

(शेष पृ० ३१ पर)

अनेकान्त

वर्ष ३८ किरण ४ | वी० नि० सं० २५१२ वि० सं० २०४२ | अक्तू०-दिसम्बर १९८५

अनुकूलता-प्रतिकूलता

□ हरिकृष्ण दास 'हरि'

जीवन में कुछ अनुकूल होता है, कुछ प्रतिकूल ।

मन चाहता है—सब अनुकूल ही अनुकूल हो ।

क्या यह संभव है ?

क्यों नहीं ?

तनिक गहरे जाइये ।

सब में सब है । प्रत्येक अनुकूल भी है, प्रतिकूल भी । अनुकूलता के पीछे से प्रतिकूलता झांक रही होती है और प्रतिकूलता के पीछे से अनुकूलता । सोलहों आने अनुकूलता है न प्रतिकूलता ।

मन की दृष्टि दोषपूर्ण है; इसलिए मनचाहा नहीं होता ।

शुद्ध दृष्टि सब देख सकती है और सब नहीं भी देख सकती है । जब जो जितना चाहिए, वह देखती है और जब जो जितना नहीं चाहिए, नहीं देखती है ।

मन की दृष्टि शुद्ध होते ही मनचाहा हुआ धरा है ।

प्रतिकूलता में अनुकूलता है ही । तब सहज उसके दर्शन कर सकेंगे और फलतः कूलना छूट जायेगा ।

जरा और समझदारी से काम लेने पर अनुकलता में प्रतिकूलता के भी दर्शन कर सकेंगे; फलस्वरूप फूलने से बचे रहेंगे ।

स्मरण रहे—कूलना कमजोरी लाता है और फूलने से गुब्बारे की तरह फट कर रह जाना पड़ता है ।

इतना करने पर एक और बात भी होगी ।

तब आपको सहज समता सुन्दरी के दर्शन होंगे और जो आपमें उसे प्रेम के दर्शन हुए, तो वह आपको वर भी लेगी । फिर तो सहज नित्य-निरन्तर पौबारह ही रहेंगे । क्यों, क्या नहीं ?

और चाहिए भी क्या ?

—कूचा पातीराम, दिल्ली-६

णायकुमारचरिउ की सूक्तियाँ और उनका अध्ययन

☐ डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

हिन्दी साहित्य में 'बिहारी सतसई' के सम्बन्ध में विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि सतसई के दोहे देखने में तो छोटे लगते हैं किन्तु नाविक के तीर के समान वे गंभीर घाव करते हैं।[1] प्रस्तुत सूक्तियाँ सतसई के दोहों की अपेक्षा कहीं अधिक छोटी और अधिक अर्थ-गाम्भीर्य लिए हुये हैं। यदि हम यह कहें कि उनमें अर्थ-गाम्भीर्य वैसा ही दिखाई देता है, जैसा कि तत्वार्थ सूत्र के सूत्रों में तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

सूक्तियों में लोक हितैषी भावनाएँ दिखाई देती हैं। विशिष्ट अनुभव, चिन्तन और मनन के उपरान्त ही ये किसी घटना विशेष या कथन के निष्कर्ष रूप में कही गयी प्रतीत होती है। उनमें शाश्वत् सत्य उद्घाटित किए गये हैं। संक्षेप में होना उनका विशिष्ट गुण है। सूक्तियों से नवचेतना जागृत होती है, अस्थिरता स्थिरता में परिणत हो जाती है।

सूक्ति शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ प्रतिफलित होता है। सूक्ति—सु+उक्ति से निर्मित है। सु का अर्थ है सुष्ठु अच्छा और उक्ति का अर्थ है कथन। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूक्ति का अर्थ है अच्छा कथन, और अच्छा कथन वही कहा जा सकता है जिसका श्रोता पर प्रभाव पड़े बिना नही रहे। श्रोता उसी कथन से प्रभावित होता है जो हितकारी, मनोहारी और कर्णप्रिय हो। संक्षिप्त होना भी आवश्यक है। सूक्तियों में संक्षिप्तीकरण तो होता ही है। इसके अतिरिक्त वे हितैषी, मनोहारी और कर्णप्रिय भी होती हैं। अत: इस व्याख्या के आलोक में कहा जा सकता है कि वे "यथा नाम तथा गुण" कहावत को चरितार्थ करती हैं।

पुराणों में सूक्तियों को सुभाषित कहा गया है तथा रत्न भी[2]। सुभाषित शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति की जाये तो सुभाषित और सूक्ति दोनों के अर्थ समान ही ज्ञात होते हैं। अत: सुभाषित और सूक्ति दोनों अर्थ साम्य होने से सुभाषित-सूक्ति का पर्यायवाची कहा जा सकता है। 'रत्न' कहा जाना बहुमूल्यत्व का प्रतीक है। सूक्तियाँ हैं भी रत्न के समान बहुमूल्य, क्योंकि वे अनुभव के बाद कही जाती हैं, जो अनुभव बहुसमय एवं कष्ट साध्य होता है। पुराणों और चरित काव्यों में ऐसे रत्न भरे पड़े हैं[3] किन्तु प्राप्त उन्हें ही होते हैं जो ऐसे काव्य-सागर में गोता लगाने में सिद्धहस्त हैं।

सुभाषितों को मन्त्र ही नहीं महामन्त्र भी कहा गया है।[4] परन्तु वे ऐसे मन्त्र हैं जिनका प्रयोग कवि ही कर सकता है। ऐसे मन्त्रों से दुर्जन पुरुष भूतादि ग्रहों के समान प्रकोप को प्राप्त होते हैं। मन्त्रों और सुभाषितों के प्रयोगकर्ता यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं परन्तु अन्य तथ्यों में (जैसे मनोहारिता, कर्णप्रियता, हितैषीपना और संक्षिप्तीकरण)

---

१. सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

२. यथा महार्घ्यं रत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात्।
तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात्पुराणतः॥
सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम्।
सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे-पदे॥
—आचार्य जिनसेन, महापुराण : २, ११६ और १२२

३. महापुराण पद्मपुराण और वीवर्द्धमानचरित में क्रमशः ७६२, १००० और १११ सूक्तिरत्न अब तक प्राप्त हो चुके हैं।

४. सुभाषितमहामन्त्रान् प्रयुक्तान्कविमन्त्रिभिः।
श्रुत्वा प्रकोपमायान्ति दुर्ग्रहा इव दुर्जनाः॥
—महापुराण : वही; १, ८८

५. जुआ खेलना मांस मद वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पररमणी-रमन सातों व्यसन निवार॥

समानता होने से सुभाषित मन्त्र है या मंत्र के समान हैं। मन्त्र कहे जाने से यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि सुभाषित भी मन्त्रों के समान कष्टहारी हैं। इनके प्रयोग से अर्थात् चिन्तन-मनन से कष्ट वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे मंत्रों से सर्पदंशादि जनित कष्ट।

संस्कृत साहित्य जैसे सूक्तियों का वृहद् भण्डार है, वैसे ही अपभ्रंश साहित्य भी सूक्तियों का खजाना है। कवि पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषा साहित्य के कवियों में श्रेष्ठ कवि स्वयम्भू के उत्तरवर्ती कवियों में श्रेष्ठ कवि हैं। आपकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं—महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, और वीरवर्द्धमान चरिउ। इनमें 'णायकुमारचरिउ' की सूक्तियों से ही यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सूक्ति साहित्य में उनका कितना योगदान रहा है।

णायकुमारचरिउ की सूक्तियाँ न केवल कर्णप्रिय हैं अपितु उनमे वैसा ही अर्थ गाम्भीर्य भरा है जैसा कि संस्कृत भाषा के कवि भारवि की रचनाओं मे अर्थ-गौरव। वे शाश्वत् सत्य प्रकट करती हैं। उनमें ऐसे तथ्यों का समावेश है जो इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की ओर जीवों को प्रेरित करते हैं। सूक्तियों के अन्तर में कवि का गहन अध्ययन और चिन्तन है। किंकर्तव्य विमूढ़ावस्था में अन्धे की लाठी हैं।

कवि ने वृद्ध उसे नहीं माना जो जरा से जर्जरित, या दन्तविहीन हैं अथवा जिनके केश श्वेत हो गये हैं। उनकी दृष्टि में तो वृद्ध वे हैं जो सज्जन और सुलक्षण होते हुये शास्त्र और कर्म संबंधी विषयों में प्रवीण हैं। इसी प्रकार उन्होंने अधर्म और तीर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में, गृहस्थ धर्म कैसे धारण हो? क्षुद्र कौन? आदि विषयों के समाधानों में भी नवीन दृष्टि से चिन्तन किया है। संबंधित सूक्तियाँ क्रमशः १५, १७, ७५, ३४, ५४ उनके मनन और चिन्तन की परिचायक हैं।

अपने अनुभवों को भी कवि ने सूक्तियों में उड़ेल दिया है। दूरदर्शिता है। संकेत है विसंगतियों से बचने का एवं उनसे जूझने का पराजय प्राप्त होने पर धैर्य धारण करने का। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं सूक्तियाँ क्रमशः १, ३, १०, ११, १२, ४१ और ५७।

पुण्य और पाप का माहात्म्य (२, ६, १८), भाग्य की प्रबलता (४, ५३), जैन धर्म की महत्ता (५), कर्मानुसार सुख-दुख (१३), काम की वैचित्र्यता (२८), निर्मल स्वभाव की महत्ता (७२) गुरु-शिष्य के आदर्श सम्बन्ध (२६), संसार की निस्सारता (४३), देह और स्नेह की सार्थकता (४५, ४५) गुणी के प्रति सद्भाव (३२) विनय की महत्ता (१६) और गुणग्रहण (६०) जैसे विषय के सम्बन्ध में कवि के व्यक्त विचार द्रष्टव्य हैं।

चित्त शुद्धि को कवि ने प्रधानता दी है। वे चित्त से शुद्ध वेश्या को भी कुलपुत्री कहते हैं (२५)। नारि स्वभाव के तो वे पारखी रहे ज्ञात होते हैं। उन्होंने एक ओर जहाँ उन्हें रत्न कहा है, दूसरी ओर यह भी कहा है कि नारियाँ अपना हित नहीं जानतीं, प्रिय के दोषों को भी गुण मानती हैं, स्वभाव से वे वक्र होती हैं (२४, ९९, ५५)।

जीव हितैषी भावनाओं को भी सूक्तियों में पल्लवित-पुष्पित होने दिया है। सुख-दुख के कारणभूत संसार से छूटने हेतु क्षणभंगुरता और नश्वरता का भी भली-भाँति बोध कराया गया है। यौवन नाशवान् है, मरण सुनिश्चित है, अच्छी वस्तुओं का योग वियोगमयी है (८, ९ ४२, ४३, ४६, ५१) और मरण काल में कोई शरण नहीं है (४०, ४७, ४८) आदि विषयों का निरूपण कर स्वहित करने के लिए सूक्तियों के माध्यम से कवि ने प्रेरणा प्रदान की है। जैनदर्शन में जैसे सप्त व्यसन असेव्य बताये गये हैं,[१] किञ्चित परिवर्तन के साथ सूक्तियों में भी सप्त संख्यक असेव्य कार्यों को त्याज्य बताकर उनके सेवन के फल को भी दर्शाया है (२३, ३५) जिससे कि भयभीत होकर मनुष्य उनका सेवन न करे। उनके परिणाम आज भी बुरे ही देखे जाते हैं।

धन विकारोत्पादक है, धन हो तो निर्धनों का तो पालन-पोषण करे किन्तु पापियों का नहीं। पापियों को धन देना कोश को सुखाना है। धन के सम्बन्ध में कवि के विचारों में नवीनता है। यथार्थता को प्रकट करने में वे सफल हैं। दान संबंध में ये कथन उल्लेखनीय हैं (३०, ३१, ३८, ५९)।

संगति उन्नति के लिए आवश्यक है, कुसंगति नहीं (१४, २२), शोभा किसकी किससे? विषयों की बोधक

सूक्तियाँ भी इस चरित में उपलब्ध हैं (६१-६६)। इनमें जीवन सुधार सम्बन्धी संकेतो का समावेश है।

मनुष्य की धन-पिपासा कैसे शान्त हो? इस हेतु सूक्तियों मे कहा गया है कि अर्थसिद्धि का कारण धर्म है। धर्म से ही पापों का क्षय तथा नाना प्रकार की संपत्तियां प्राप्त होती है (१६, ५२, ५३)। वह धर्म कौन सा है? जिससे ऐसा होता है, इस प्रश्न के समाधान हेतु नीतियों मे अहिंसामयी धर्म को प्रधानता दी गयी है (४७)। इस प्रकार जीवन मे धर्म के महत्व का प्रतिपादन कर कवि ने नीतियो की उपादेयता सिद्ध की है।

धर्म के सबंध में यह भी वह सत्य है कि जाने बिना वास्तविक रूप से धारण नही किया जा सकता है। जानना तभी संभव है जबकि जानने की शक्ति मोहावृत न हो, क्योंकि मोह ही वह है जो ज्ञानियों के ज्ञान को ढक देता है, और मिथ्यादर्शन की ओर ले जाता है (७०-७१)। अत: लगता है ऐसी सूक्तियों मे कवि की यही भावना अन्तर्निहित रही है कि लोग मोह से बचे।

नीतिपूर्ण सूक्तियों मे ऐसे तथ्यों को भी उद्घाटित किया गया है जिनसे कि लोग सामान्य व्यवहार का कुशलता पूर्वक निर्वाह कर सकते है और परस्पर मे प्रेम-भाव बनाये रख सकते है। मनुष्यो के क्या कर्तव्य है? (७), परिजनों को कैसे संतुष्ट किया जावे (२१), विघ्न के सम्बन्ध में योग्य परामर्श (२०) कुमत्री से क्यों बचें? (२७), लक्ष्मी लम्पटी और खल कैसे होते है? (३३, ३६), क्षुद्र का स्वभाव (३७), आदि ऐसे विषय हैं जिनसे जीवन सुखपूर्वक जीने के लिए निर्देश प्राप्त होता है। ऐसा भी कथन प्राप्त होता है कि तप यद्यपि कष्टसाध्य है परन्तु है वह उपादेय ही हेय नही (५८)।

अत: णयकुमारचरिउ की सूक्तियों के साक्ष्य मे कहा जा सकता है कि सूक्तियो के रूप मे जीवनोपयोग, कल्याण-कारी दिशाबोधक बहुमूल्य सामग्री देकर कवि ने न केवल सूक्तिसाहित्य को समृद्ध किया है अपितु भारतीय वाङ्मय की समृद्धि में भी चारचाँद लगाये है।

ऊपर कोष्ठको में दर्शायी गयी सूक्ति सख्याओ से सम्बन्धित सूक्तियाँ आगे क्रमश: दी जा रही हैं। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।

—: णायकुमारचरिउ से संकलित सूक्तियाँ :—

१. सिहि उण्हउ सीयलु होइ मेहु ६, ५, ५,
अग्नि उष्ण और मेघ शीतल होता है।

२. भणु किं ण पुण्णवंतहो कियउ २, १४,६
कहो! पुण्यवान के लिए क्या नहीं किया जाता?

३. णिद्दइयहो सुहि वंकइ वयणु २, १४, १०
निर्दयी मनुष्य से मित्र भी मुंह फेर लेता है।

४. दइवेण कालसप्पु वि सयणु २, १४, १०
भाग्यवश काला नाग भी स्वजन बन जाता है।

५. जसु जिणधम्मु मणे तहो,
दिणिजि द्विणेसुर वि णमंति णिरुत्तउ २, घत्ता १३
जिसके मन मे जैनधर्म है उसे नित्य निश्चय से देव भी नमते हैं।

६. जह पावपसत्तहो सुहसहणु,
दालिछिएण पावइ रयणु २, ६, १७
पापसक्त को दारिद्रय के कारण सुखदायी रत्न प्राप्त नही होते।

७. जेण ण तव चरणु किउ दुहहरणु,
विसए ण मणु आउचिउ।
अरुहि ण पुज्जियऊ, मलवज्जियउ,
ते अप्पाणउ वंचिउ॥ २, घत्ता ६
जिसने दुखहारी तपश्चरण नहीं किया, विषयों से मन को नही खीचा एव दोष रहित अर्हन्त को नहीं पूजा उसने अपने को ही ठगा है।

८. णव जोव्वणु णासइ एइ जरा २, ४, ५
नव यौवन का नाश होता है और बुढ़ापा आता है।

९. उप्पण्णहो दीसइ पुणु मरणु २, ४, ६,
जो उत्पन्न हुआ है उसका पुन: मरण देखा जाता है।

१०. अइसुंदररूवें रूउतहसइ २, ४, ८
एक सुन्दर रूप के आगे फीका पड़ जाता है।

११. वीरु वि संगामरंगि तसइ २, ४; ८
वीर पुरुष भी संग्राम में त्रास पाता है।

१२. णियमाणुसु अण्णु जि लोउ जिह।
णिण्णेहें दीसइ पुणु वि तिह॥ २, ४, ६
अपना प्रिय मनुष्य भी स्नेह के फीके पड़ने पर अन्य लोगों के समान साधारण दिखाई देने लगता है।

१३. इह को सुत्थिउ को दुत्थियउ ।
सयलुवि कम्मेण गलात्थिउ ॥ २, ४, ११
इस संसार में कौन सुखी और कौन दुखी है ? सभ. कर्मों की विडम्बना में पड़े हैं ।

१४. छोह समुज्जवेण सुसहाएं परिसिय छत्तहयगया ।
अलसंतेग पिसुण जण संगे णासइ राय सपया ॥
३, २, दुवई
भली भांति उद्यम करने से एवं सन्मित्र के सहयोग से ही छत्र, अश्व और हाथियो से सहित राज-सम्पत्ति उत्पन्न होती है तथा आलस्य करने और नीच पुरुषों की संगति से वह नष्ट हो जाती है ।

१५ ते वुरढा जे सुवण सुलक्खण सत्थकम्म विसएसु वियक्खण । ३२, ३
वृद्ध वे ही हैं जो सज्जन और सुलक्षण होते हुए शास्त्र और कर्म सम्बन्धी विषयो में प्रवीण हो ।

१६ विणए इंदियजउ संपज्जइ । ३२, ८
विनय से इन्द्रियो पर विजय प्राप्त होती हैं ।

१७ दुट्ठदो परिपालणु जहिं किज्जइ-
सो अहम्मु जहिं साहु वहिज्जइ ॥३२, १६
अधर्म वह है जहां दुष्ट का परिपालन और साधु का वध किया जावे ।

१८ ण मिलइ रायलच्छि अहगारछो । ३, २, ११
पापी को राजलक्ष्मी नही मिलती ।

१९ धम्में विणु ण अत्थु साहिज्जइ । ३, २, १३
धर्म के बिना अर्थसिद्धि नहीं होती ।

२० उवसग्गु वि हवंतु णासिज्जइ । ३, ३, १०
विघ्न उत्पन्न होते ही उसका विनाश करना उचित है ।

२१ परियणु दाणें संतोसिज्जइ । ३, ३, १०
परिजनों को दान से संतुष्ट करे ।

२२ मूयसु णिसीह कुपरिसहँ संगमु-
होइ तेण भीसणु वसणागमु ॥३, ३, १३
कुपुरुषों की संगति छोड़ो, उससे भयंकर व्यसनों का आगमन होता है ।

२३ मज्जु विलासिणिउ मिगमारण जूया रसणु ।
धणदूसणु मुयहि णिट्ठुर वयणु दंड फरसत्तणु ॥३,३ घत्ता
मद्य, विलासिनी स्त्रियां, आखेट, द्यूतानुराग, धन का अन्याय मे अर्जन, कठोर वचन, तथा दण्ड की कठोरता का त्याग करना चाहिए ।

२४ अकुलीणु वि थीरयणु लइज्जइ । ३, ७, ८
अकुलीन को भी स्त्रीरत्न ले लेने में कोई दोष नहीं है ।

२५ सुद्धचित्त वेस वि कुलउत्ती । ३, ७, १०
शुद्धचित्त वेश्या भी कुलपुत्री है ।

२६ जुत्ताजुत्तउ गुरुयणु जाणइ ।
सिसु दिण्णउ पेसणु संमाणइ ॥ ३, ७, १४
योग्य अयोग्य गुरुजन जानते हैं, शिशु तो उनकी आज्ञा का सम्मान ही करते हैं ।

२७ अवरु कुमंतिमत हय सोत्तहो ।
मइ विवरीय होइ सायत्तहो ॥ ३, ९, ९
कुमत्री के मत्र से जिसके कान भर जाते हैं उस स्वच्छन्द व्यक्ति की मति विपरीत हो जाती है ।

२८ कामाउरहिं कि ण किर दिज्जइ । ३, १०,६
कामातुर मनुष्य क्या नहीं दे सकते ।

२९ महिलउ णउ मुणति सहियत्तणु,
महिलहँ गुण सहाउ वकत्तणु ॥ ३, ११, ३
महिलाएँ स्वयं अपने हित को नही जानतीं, टेढ़ापन महिलाओ का स्वाभाविक गुण है ।

३० जासु अत्थु सो जाइ वियारहिं । ३, ११, ९
जिसके धन है वही विकार को प्राप्त होता है ।

३१ महिलइँ जडयणहँ धणुहीणह दीणइ दुल्लहु ।३,१३ घत्ता
महिलाओ जड पुरुषो एवं हीन तथा दीन जनों को धन दुर्लभ है ।

३२ गुणवंतउ माणुसु भल्लउ । ३, १३ घत्ता
गुणवान् मनुष्य ही भला होता है ।

३३ सिरि लंहडह णत्थि कारुण्णउ । ३, १५, ३
लक्ष्मी लम्पटो के करुण नहीं होतीं ।

३४ घरधम्मु धरिज्जउ णिग्गहेण ।
लोहस्स पमाण परिग्गहेण ॥ ४, २, ८
लोभ-निग्रह और परिग्रहप्रमाण द्वारा ही गृहधर्म धारण किया जाता है ।

३५ जो मइरा चक्खइ आमिसु भक्खइ, गुरु कुदेवहँ लग्गइ ।
सो माणउ णट्ठउ, पह पब्भट्ठउ, पावइ भीसण दुग्गइ ॥
४, २ घत्ता

जो मदिरा चखता है, मांस खाता है, कुगुरु-कुदेव पूजता है वह मनुष्य नष्ट और पथभ्रष्ट है, वह भीषण दुर्गति को प्राप्त होता है।

३६ खलु णायण्णइ पिय जंपियाइं। ४, ८, ३
खल पुरुष प्रिय वाणी नहीं सुनता।

३७ खुद्दें सहुं किं पिय जंपिएण,
सत्तच्चिहें किं घित्ते घिएण॥ ४, ६, १०
क्षुद्र मनुष्य के साथ प्रिय वचन बोलना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे अग्नि में घृत डालना।

३८ कुत्थिय णर पोसणु कोससोसु,
इहभवि परभवि तं करइ दोसु। ४, ४, ४
पापियों का पोषण करना अपने धनकोश को सुखाना है, वह इस भव में तथा परभव में दोष उत्पन्न करता है।

३९ को तं तरइ जलहि जलु दुत्तरु। ५, ३, ३
दुस्तर समुद्र के जल को कौन पार कर सकता है।

४० को रक्खइ बलवंतहं सरणइं। ५, ३, ४
बलवान् के चंगुल में फँसे व्यक्ति की कौन रक्षा कर सकता है।

४१ जं जाणइ तं सो वि अणुट्ठइ। ५, ६, ७
जानकारी के अनुसार ही अनुष्ठान किया जाता है।

४२ हा किं सग्गें खय संसग्गें। ५, ११, ९
हाय! उस स्वर्ग से क्या जिसका संसर्ग क्षयशाली है।

४३ किं सोहग्गें पुणरवि भग्गें। ५, ११, ९
उस सौभाग्य से क्या जो फिर भग्न हो जाता है।

४४ किं णेहें वड्ढिय सिविणेहें। ५, ११, १०
उस स्नेह से क्या जो स्वप्नेच्छाओं का वर्द्धक है।

४५ किं देहें जीविय संदेहें। ५, ११, १०
उस देह से क्या जिसमें सदैव जीवन का सन्देह बना रहता है।

४६ उज्झउं चत्तसारु संसारउ। ५, ११, ११
संसार सारहीन और तुच्छ है।

४७ णउ कहिंमि मरण दिण उव्वरइ। ६, ४, ३
मरण के दिन कहीं भी रक्षा नहीं हो सकती।

४८ सुहु रायपट्टबंधे वसइ किं आउणि बंधणु णउतछसइ। ६, ४, ४
मनुष्य राजमुकुट बाँधकर सुख से वास करता है तो क्या उसका आयुबन्ध क्षीण नहीं होता।

४९ रायत्तणु संझारउ जिह। ६, ४, ८
राज्यत्व संध्याराग के समान है।

५० णउ एंतु मिच्चु दुग्गें खलिउ। ६, ४, ९
आती हुयी मृत्यु को कोई दुर्ग नहीं रोक सकता।

५१ चिंधें खयचिंधु ण ढंकियउ। ६, ४, १०
ध्वजा-पताका से विनाश-चिह्न ढका नहीं जा सकता।

५२ भणु किं ण पाउ धम्में खविउ। ६, ५, ६
कहो! धर्म से किस पाप का क्षय नहीं होता?

५३ वर भवण जाण वाहण सयणासण पाण भोयणाणं च।
वर जुवइ वत्थभूसण संपत्ति होइ धम्मेण॥६,१०,१-२
उत्तम भवन, यान, वाहन, शयनासन, पान, भोजन, सुन्दर युवती, तथा वस्त्र भूषणादि सम्पत्ति धर्म से होती है।

५४ अम्हारिस जे मणुय वराया।
किमि से जणणी सोणियय जाया॥ ७, १५, ९
जो क्षुद्र हैं वे माता के रक्त से उत्पन्न कृमि मात्र हैं।

५५ महिलउ पियदोसु वि गुणु मुणति। ८, १, ११
महिलाएँ अपने प्रिय के दोषों को भी गुण मानती हैं।

५६ विणु सोहग्गें किं करइ वण्णु। ८, १, १२
बिना सौभाग्य के वर्ण क्या कर सकता है।

५७ णयणइं लग्गंति ण विप्पिएण। ८, ५, २
अप्रिय से नेत्र नहीं मिलते।

५८ दुक्खु वि चंगउ सुतवें कएण। ८, १३, ७
सुतप करने से दुख भी हो तो भी भला है।

५९ धणु खीणु वि विहुलिय पोसणेण,
मरणु वि चंगउ सण्णासणेण॥ ८, १३, ८
निर्धनों के पालन-पोषण में धन-व्यय तथा सन्यास-पूर्वक मरण होना अच्छा है।

६० सयणत्तणु सज्जणगुणगहेण।
पोरिसु सरणाइय रक्खणेण॥ ८, १३, १०
सज्जनों के गुणग्रहण से स्वजनत्व तथा शरणागतों के रक्षण से पौरुष सार्थक होता है।

६१ सोहइ णरवरु सच्चए वायए। ९, ३, १
मनुष्य सत्यवाणी से शोभता है।

६२ सोहइ कइयणु कहए सुबद्धए। ६, ३, २
कवि जन सुविरचित कथा से शोभते हैं।

६३ सोहइ मुणिवरिंदु मण सुद्धिए। ६, ३, ३
मुनिवर मन की शुद्धि से शोभते हैं।

६४ सोहइ विहउ सपरियण रिद्धिए। ६, ३,५
वैभव परिजनों की ऋद्धि से शोभता है।

६५ सोहइ माणुसु गुण संपत्तिए। ६, ३, ६
मनुष्य गुण रूपी संपत्ति से शोभता है।

६६ सोहइ कज्जारंभु समत्तिए। ६, ३, ६
कार्यारम्भ कार्य की समाप्ति से शोभता है।

६७ सोहइ सहडु सुपोरिस राहए। ६, ३, ७
सुभट पौरुष के तेज से शोभता है।

६८ सोहइ वरु वहुयए धवलच्छिए। ६, ६, ८
वर की शोभा उसकी धवलाक्षी वधू से है।

६९ सोहइ महिरुहु कुसुमिय साहए। ६, ३, ७
वृक्ष फूली हुई शाखाओं से शोभता है।

७० मोहें णाणु हुंतु ढंकिज्जइ। ६, ५, १
होते हुए भी ज्ञान मोह से ढक जाता है।

७१ मोहें पसरइ मिच्छादंसणु। ६, ५, २
मोह से मिथ्यादर्शन का प्रसार होता है।

७२ णिम्मलु किं परवइरे णडियउ। ६, ७, ५
जो निर्मल स्वभावी है वे दूसरों के प्रति वैरभाव के वशीभूत कैसे हो सकते हैं ?

७२ णयणु अणाइ अणंतु अमाणु वि। ६, ११, ६
आकाश अनादि अनन्त और असीम है ?

७४ धम्मु अहिंसा परमु जए। ६, १३ घत्ता
अहिंसा धर्म ही श्रेष्ठ है।

७५ तित्थइँ रिसि ठाणाइँ हवित्तइँ। ६, १३ घत्ता
तीर्थ वे हैं जहाँ मुनीन्द्र का वास रहा है।

—जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज०)

(पृ० २४ का शेषांश)

तिलक आदि लगायै कै, बहुत परिगह भेद !
सो कबहूं राखे नहीं, तीन काल निखेद !
अब इस दूखम काल मैं, सो गुरु दीसे नाहिं !
तिन बिन और गुरु नहीं, नमैं सु सम्यक्नाहि !

९ सर्व सुखराय :—बनारसी दास के पुत्र सर्व सुख राय जहानाबाद से शकूराबाद में आ बसे थे ! यहां इन्होंने पदमावती पुरवाल गोत्रीय जैन 'लाल जी' के निवेदन पर समवसरण पूजा की रचना की ! ग्रन्थ रचना काल माघ ८ संवत १८३४ है ! भासा सरल व बोधगम्य है।

जय गन्ध कुटी सोभै सुतीन जय तापर कमल रचो नवीन जय तापर प्रतिमा एक जानि, श्री सिद्ध रूपतनी बखानि जय तीने छत्र सोभै महान जय चमर ढिले आनन्द खान : ४८

१० लाल चन्द :—यह लोहाचार्य भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने आर्या चौपाई दोहा आदि छंदों में सम्मेद शिखर महात्म्य लिखा। सम्मेद शिखर के विभिन्न कूटों—अविचल, प्रभास, निर्जरा आदि का वर्णन २१ सर्गों में है। इसकी भाषा साधारण ब्रज है—

सज ऐरावत इन्द्र आइयो
ले सुमेर प्रभुकु थापियो
एक हजार वसु कलस ढलाय
जिनवर को अभिषेक कराये ॥९॥
शान्तिनाथ अभिधान कराय
मात पिताकु सौंप्यो आय।
ताडव करि स्वर्ग कु गये
इन्द्रादिक मन हर्षित भये ॥१०॥

उक्त कवियो की विविध रचनाए मध्यकालीन हिन्दी काव्य की नई दिशा का स्पष्ट सकेत है जिसको महत्व मिलना अब अनिवार्य हो रहा है।

११० ए, रन्जीत नगर भरतपुर ३२१००१

जैन धर्म में ईश्वर की अवधारणा

□ कु० मीनाक्षी शर्मा

दर्शन क्या है—व्याकरणके अनुसार दर्शन शब्द "दृश" धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। वास्तव में दर्शन शब्द का अर्थ है रहस्य का उद्घाटन अथवा प्रत्यक्षीकरण। दर्शन का सम्बन्ध जीवन तथा अनुभव दोनों के साथ है। जीवन का रहस्य आचार शास्त्र के अन्तर्गत है और अनुभव का रहस्य तत्वज्ञान के अन्तर्गत। दर्शन मूर्त तथा अमूर्त दोनों ही प्रकार के पदार्थो का होना है। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय बतलाया गया है। दर्शन द्वारा परम ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। दर्शन के द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म के रहस्य का उद्घाटन किया जाता है। भारत मे धर्म और दर्शन दोनो का एक ही उद्देश्य रहा है और वह है सांसारिक अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति।

दर्शन के भेद—दर्शन को दो भागोमे विभक्त किया गया है-१. आस्तिक दर्शन तथा २. नास्तिक दर्शन। जो दर्शन वेदों में विश्वास रखते है तथा ईश्वर की सत्ता को मानते है वे आस्तिक दर्शन कहलाते है और जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास रखते हैं तथा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते वे नास्तिक दर्शन कहलाते है। आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत षड्दर्शन-वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, पूर्व मीमासा दर्शन तथा उत्तर मीमासा दर्शन- की गणना की जाती है और नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन एव बौद्ध दर्शन की गणणा की जाती है।

यद्यपि जैन दर्शन को नास्तिक दर्शनो के अन्तर्गत रखा जाता है किन्तु यह बात सत्य नही है। भारतीय परम्परा में नास्तिक शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—पुनर्जन्म मे अविश्वास, वेद प्रामाण्य से अविश्वास तथा ईश्वर में अविश्वास। इनमे से प्रथम अर्थ में जैन धर्म नास्तिक नही क्योंकि यह धर्म पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। जहां तक दूसरे अर्थ का प्रश्न है इस मत के विषय में कोई दो विचार नहीं हैं कि जैन धर्म वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता। इसका कारण यह है कि जैनो के अपने आचार्य मुनि और धार्मिक ग्रन्थ है जिनमें अकाट्य दार्शनिक सिद्धान्त विद्यमान हैं। जैनों की यह धारणा है कि उनके धर्म ग्रन्थों में वास्तविक ज्ञान निहित है। अतः वे वेदों को प्रमाण न मानकर अपने धर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता को मानते हैं, जो युक्तिसंगत ही है।

नास्तिक शब्द का तृतीय अर्थ ईश्वर को न मानना बतलाया गया है क्योंकि नास्तिक शब्द का प्रचलित अर्थ अनीश्वरवादी ही है। जैन धर्म को अनीश्वरवादी मानना अप्रामाणिक तथा अदार्शनिक बात होगी, क्योंकि जैनधर्म में केवल व्यक्ति ईश्वर को अस्वीकार किया गया है, ईश्वरत्व को नही यहां अनंतो सिद्धात्माएं ईश्वररूप में स्वीकृत है।

सही दृष्टि से देखा जाये तो जैन अनीश्वरवाद वास्तव में दार्शनिक अनीश्वरवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता का गहन विश्लेषण किया गया है और उन दार्शनिकों के तर्को का व्यवस्थित रूप से खण्डन किया गया है, जिन्होने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं। जैन धर्म मे ईश्वर शब्द का प्रयोग जीव के उच्चस्तरीय अस्तित्व के अर्थ में किया गया है। जैन-दर्शन के अनुसार मुक्त आत्माये विश्व के सर्वोच्च स्थान पर पहुंच जाती हैं। ये परिपूर्ण आत्माये होती हैं, इसलिए इनका पतन नही होता इसी कारण तीर्थंकर का स्थान ईश्वर से ऊँचा माना गया है। तीर्थंकर का स्थान प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है औक तीर्थंकर मान्यता का सर्वोत्कृष्ट आधार है।

जैन दर्शन आस्तिक दर्शनों की भांति सृष्टि के निर्माता एवं नियता किसी सर्व शक्तिमान ईश्वर में विश-

वास नहीं करता। जैन मतानुसार इस सृष्टि का न तो कोई आदि है, न अंत है। प्रत्येक वस्तुका अनादि काल से अस्तित्व है। अतः उनकी उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए किसी सृष्टिकर्ता की आवश्कता नहीं है। आचार्य जिनसेन पूछते हैं। "यदि ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया तो पहले वह कहां था ? यदि वह दिक् में नहीं था तो फिर उसने सृष्टि का निर्माण कहां किया ? एक निराकार निर्द्रव्य ईश्वर द्रव्यमय विश्व का निर्माण कैसे कर सकता है ? यदि द्रव्य का पहले से अस्तित्व रहा है, तो फिर विश्व को अनादि मानने में क्या हर्ज है ? यदि सृष्टि निर्माता का निर्माण किसी ने नहीं किया है, तो फिर विश्व का स्वतः अस्तित्व मानने में क्या हर्ज है ?" आगे वह कहते है : "क्या ईश्वर स्वतः पूर्ण है ? यदि है, तो उसे इस विश्व का निर्माण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि नहीं है, तो एक साधारण कुम्भकार की तरह वह इस कार्य के लिये अयोग्य होगा, क्योंकि स्वीकृत परिकल्पना के अनुसार एक परिपूर्ण सत्ता ही इस कार्य को कर सकती है।"[1]

"ऐश्वर्य" शब्द की रचना संस्कृत की मूल धातु "ईश" (एश्वर्य) से हुई और इस शब्द का प्रयोग सदा सांसारिक वैभव-रूपया पैसा, मकान, जानवर, नौकर-चाकर आदि उपयोग की सामग्री या आधिपत्य के लिये ही होता है।[2] अतः ईश्वर वही कहलाता है जो लौकिक ऐश्वर्य से मुक्त हो। कोष में भी जहां ईश्वर के नाम गिन-वाये हैं, ईश्वर शब्द से लौकिक ऐश्वर्य सम्पन्नता का ही बोध होता है, परमेश्वर या परमात्मा का नहीं।

यथा—राजाऽधिपः पतिः स्वामी नाथः परिबृढः प्रभुः।

ईश्वरो विभुरीशानो भर्तेन्द्र इन ईशिता ॥ (धनजय)

इसके अतिरिक्त मुख्य बात यह भी है कि जिस प्रकार लोक में ईश्वर की व्याख्या का प्रचलन चल पड़ा है वैसी व्याख्या प्राचीनतम साहित्य वेदों तक मे भी कहीं उपलब्ध नहीं होती। और तो क्या कोई वेद ऐसा नहीं है जिसमे ईश्वर शब्द तक दृष्टिगोचर होता हो।

अन्य ग्रन्थों में जहां यदा कदा ईश या ईश्वर शब्द का प्रयोग मिलता है वह भी भौतिक शक्तियो के अधिष्ठाता रूपों का ही संकेत देता है, परमात्मा वाचक पद का नहीं।

यथा—ईश्वरः पर्जन्यो वष्टोः (ऐत० १/१६) १

तस्येश्वरः पूजा पापीयसी भवितोः (शतपथ ५/१/१/६)

(अग्नि) स हैनमीश्वरः सपुत्र सपशुं प्रदग्धोः (शतपथ १२/५/१/१५)

अष्टाध्यायी और महाभाष्य में आयें हुए ईश्वर शब्द भी ऐसे ही लौकिक अर्थो के द्योतक हैं।

ईश्वर शब्द केवल स्वामी, राजा या शासक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसका परमेश्वर के अर्थ से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।[3] पाणिनीय सूत्रों में भी ईश्वर शब्द का प्रयोग स्वामी के अर्थ में हुआ है।[4] भाष्यकार पतंजलि ने ईश्वर शब्द राजा के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[5]

श्री गोपाल शास्त्री दर्शन केसरी, काशी विद्यापीठ का मत है कि ईश्वर शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में इधर आकर बहुत अर्वाचीन समय से संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त पाया जाता है।

उक्त वास्तविकता के अनुसार जैन धर्म को अनीश्वर-वादी कहना सर्वथा अज्ञानता ही है, क्योंकि जैन धर्म में इन सभी लौकिक शक्तियो की सत्ता (षड् द्रव्यो और उनकी विभाव परिणतियो के रूप में स्वीकार की गई है) जहां तक परमात्मा की सत्ता का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में भी जैन धर्म सबसे आगे है। जब अन्य दार्शनिकों में कई दार्शनिकों ने परमात्मा को मानने तक से इंकार कर दिया है, जैन धर्म मूक नहीं, अनेकों अनंत परमात्माओं को स्वीकार करता है।

राग द्वेष आदिक अनेकों वैभाविक परिणतियों से मलिन आत्मा जब अपने पुरूषार्थ द्वारा वैभाविक परिणतियों को अपने से पृथक कर देता है तब परम (उत्तम-श्रेष्ठ) रूप मे आ जाता है तब परमात्मा कहलाने लगता है। ऐसी अनन्त आत्माएँ है, जिन्होने इस रूप को प्राप्त कर लिया है इस प्रकार इस धर्म मे अनेकानेक परमात्माओं की सत्ता सिद्ध है। हां, चूंकि रचना करना, कर्मों का फल देना, रक्षा करना आदि कार्य शरीरधारी के धर्म है और राग द्वेष, इच्छा प्रयत्न आदि के आधीन है। अतः जैन धर्म मे परमात्मा का इन सब कार्यो से दूर रखा गया है वस्तुतः वह परमात्मा कैसा, जिसमे ये सब व्याधिया हों। अर्थात्-

न च क्रीडा विभोस्तस्य, बालिशेष्वेव दर्शनात् ।
अतप्तश्च भवेत्तप्ति क्रीडया कर्तुमुद्यतः ।।
स्वैराचार स्वभावों पि नेश्वरस्यैश्चथनितः ।
अप्यस्मदादिभि द्वेष्य सर्वोत्कर्षवतः कुनः ।।
—वादीभसिंह सूरि, क्षत्रचूडामणि-७/२३-२७१

कुछ लोगों का कथन है कि परमात्मा राग द्वेष इच्छा आदि से रहित होकर भी क्रीडा के रूप में सृष्टि का निर्माण करता है। पर यह बात सर्वथा अटपटी सी ही लगती है क्योंकि क्रीडा रूपी प्रवृत्ति तो बालकों और असंतुष्ट व्यक्तियों में ही देखी जाती है। वे संतोष के निमित्त क्रीडा का उपक्रम करते हैं। पूर्ण संतुष्ट और इच्छा रहित परमात्मा मे सृष्टि कर्तव्य आदि कार्य सम्भव नही। यदि कहा जाय कि परमात्मा बिना ही इच्छा के स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है तब उसकी प्रभुता की हानि होती है। स्वेच्छाचारिता तो साधारण जनों में भी घृणास्पद समझी जाती है। वह सर्वोत्कृष्ट, शुद्ध, निर्विकार और निर्विकल्प परमात्मा मे कैसे सभव हो सकती है। इसलिये पर निर्माण आदि रूप स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले परमात्मा मे नही हो सकता। ऐसी जैन धर्म की मान्यता है।

प्रसिद्ध विद्वान श्री गंगा प्रसाद के शब्दों मे, "ईश्वर में इच्छा बताना ईश्वर से इंकार करना है। अत. यह सिद्ध है कि न तो ईश्वर के स्वभाव से ही सृष्टि उत्पन्न हो सकती है और न यह सृष्टि उसकी दया का ही परिणाम है और न उसकी क्रीडा मात्र ही है।"

उक्त मान्यता ही जैन आगम की है। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रसिद्ध विद्वानो के निर्णय भी इसी प्रकार के मिलते है।

"जैनियो का निरीश्वरवाद इतना उदार और व्यापक है कि हमारे जैसे अजैनी तथा ईश्वरवादी के लिए यह ईश्वरवाद ही है। कई दृष्टियों से उससे ऊपर उठ जाता है। वेदान्त यदि एक वाद है तो जैन धर्म अनेकान्तवाद है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव भिन्न भिन्न है। अनंत जीव हैं और ईश्वर की जो व्याख्या हम सर्वगुणसम्पन्न, सर्वज्ञानी, परमानन्द के रूप में कहते है, जैन मत से ऐसे अनेको ईश्वर हैं।"[७]

"यहां पर हम जन धर्म के स्याद्वाद या सप्तभंगीनय का विवेचन नही करेंगे। हमने बहुत ही संक्षेप मे उसके निरीश्वरवाद का वर्णन किया है। हमारे ऐसे ईश्वरवादी, साथ ही अद्वैतवादी के लिये इसमें अनेक दोष दिख पड़े, और इस निरीश्वरवाद में सब कुछ इतना सुन्दर है कि हमको कुछ शिकायत नहीं होनी चाहिये। जीव की ऐसी व्याख्या से हमारा परमात्मा राग-द्वेष भरी सृष्टि को बनाने की जिम्मेदारी से बच गया। निर्वाण से "शून्य" का आभास समाप्त हो गया और पश्चिमी नास्तिकों की तरह हम भौतिक सुख के बंधन में ही नहीं पड़े रहे। जैनी अनीश्वरवाद इतना तर्कपूर्ण है कि उसका सहसा खंडन करना कठिन है और ईश्वर-भक्त के लिये जैनी "वीतराग" मूर्तिमान मिलते हैं।"[८]

"ईश्वर अशरीर है, इसीलिये वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर में नही है। ईश्वर शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है।"[८]

"ईश्वर को सभी वस्तुओ का स्वाभाविक ज्ञान है। आत्म-मनन के अतिरिक्त ईश्वर का और कोई कार्य नहीं है। यदि कोई कार्य माना जायेगा तो ईश्वर से भिन्न उसका लक्ष्य या उद्देश्य भी माना जायेगा। इससे ईश्वर में परिमिता दोष आ जायेगा। इस अंश में अरस्तु का ईश्वर जैनो के ईश्वर से मिलता है।"[९]

सारांश यह है कि जैन धर्म इन्ही अनेकानेक अबाध्य हेतुओं से परमात्मा को सृष्टि-निर्माता या कर्मफल दाता नही मानता। यदि विचारपूर्ण और निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो इस धर्म मे आत्माको परमात्मा जैसे परम पद को प्राप्त कराने का मार्ग प्रशस्त है। अनेकानेक आत्माएं परम पद को प्राप्त हैं तथा भविष्य में भी अनेकों को परमात्मा होने का मार्ग प्रशस्त है। इस प्रकार यह धर्म एक ही नही अपितु अनेकों परमात्माओं को स्वीकार करता है, अत: इसे परमात्मवादी अथवा जन-साधारण की प्रचलित भाषा में ईश्वर-वादी नहीं, बरन् परम ईश्वरवादी ही समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में श्री सुमेरूचन्द्र दिवाकर के विचार उल्लेखनीय हैं—

"जैन दार्शनिकों ने परमात्मा पद प्रत्येक प्राणी के लिए आत्मजागरण द्वारा सत्नतापूर्वक प्राप्तव्य बतलाया है। यहां ईश्वर का पद एक व्यक्ति विशेष के लिए सर्वदा

सुरक्षित नहीं रखा गया है। अनन्त आत्माओं ने पूर्णतया आत्मा को विकसित करके परमात्मपद को प्राप्त किया है तथा भविष्य में प्राप्त करती रहेगी। सच्ची साधनाओं वाली आत्माओं को कौन रोक सकता है? वास्तविक प्रयत्नशून्य, दुर्बल, अपवित्र आत्माओ को किसी विशिष्ट शक्ति की कृपा द्वारा मुक्ति में प्रविष्ट नही करवाया जा सकता। जैन दर्शन के ईश्वरवाद की महत्ता को हृदयंगम करते हुए एक उदारचेता विद्वान ने कहा था—"यदि एक ईश्वर मानने के कारण किसी दर्शन को आस्तक संज्ञा दी जा सकती है, तो अनन्त आत्माओं के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त करने वाले जैन दर्शन मे अनन्त गुणित आस्तिकता स्वीकार करना न्याय प्राप्त होगा।"[१०]

जैन धर्म ने संसार को परीक्षा दृष्टि दी है और प्रमाण-नय, स्याद्वाद आदि विभिन्न पहलूओं से वास्तविकता की परख के साधन उपलब्ध कराये हैं। इस धर्म में अंध श्रद्धा को स्थान नहीं।

श्रद्धा चाहे लौकिक जन से सम्बन्धित हो अथवा अलौकिक परमेश्वर से सम्बन्धित हो। दोनो के ही निर्णय में जैन धर्म के स्याद्वाद आदि सिद्धान्त "सर्वोच्च न्यायालय" जैसा निष्पक्ष न्याय देते हैं। प्रमाण और नय की कसौटी पर खरा उतरने वाला सिद्धान्त ही खरा है।

जैन धर्म की इस प्रकार की पक्षपात रहित नीति को यदि संक्षेप मे कहा जाये तो यह कहा जा सकता है—

"न ह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासरा:।
युक्ति मद वचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधैः॥
—विष्णु पुराण ३/१८/६०

हे ज्ञान बन्धुओं! आप्तवचन आकाश से नही गिरा सकते। जो युक्तिपूर्ण वचन हो, उसे मुझे तथा आप सदृश दूसरों को भी ग्रहण करना चाहिए।

भारत के तत्ववेत्ता और प्रसिद्ध दार्शनिक अनन्त शयनम् आयंगर के शब्दों में—"जैन धर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नही है, वह मूलत: एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का भौतिक विज्ञान और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है। जैन धर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्वों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणीशास्त्र, मनोविज्ञान और काल' गति, स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती—सूत्र के वनस्पति कायिक जीवों के चेतन तत्व को प्रमाणित किया है।"

क्या जैन धर्म किन्हीं देवताओं में विश्वास करता है?

जैन धर्म के अनुसार वैदिक धर्म के याज्ञिक कर्म-काण्ड को व्यर्थ बतलाया गया है और देव-पूजा के लिए इसमें कोई स्थान नही है। गृहस्थों के लिए यह विधान था कि वे पंच-परमेष्ठी की पूजा तथा उन्हें नमस्कार करें। अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंच परमेष्ठी के अन्तर्गत माने गये। अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने वाले जीवन मुक्त महात्मा अर्हत कहलाते हैं। तीर्थंकर इसी कोटि मे आते है। मुक्त पुरूष सिद्ध कहलाते हैं। यही पंच परमेष्ठी जैन धर्म के देवता कहे जा सकते हैं।

जैन धर्म मे पंच परमेष्ठी की पूजा का विधान है। अर्हताओ की मूर्तियां ध्यानस्थ मुद्रा मे पद्मासन या खड्गासन लगाये हुए मिलती हैं। इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा मन्दिरों मे की गई है। मन्दिरों को परमेष्ठियों के अमर व्यक्तित्व से प्रभावित मानकर तीर्थंकरों की स्तुतियां की जाती हैं और नमस्कार पूर्वक मूर्ति की प्रदक्षिणा की जाती है। मूर्ति पूजा की प्रक्रिया का आरंभ अभिषेक से होता है। पूजा का उद्देश्य शारीरिक एव मानसिक शुद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति है।

सारांशः—"इस प्रकार जैन दृष्टि से अर्हन्तपद और सिद्धपद को प्राप्त हुए जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव मे इस प्रकार के ईश्वर होने की शक्ति है। परन्तु अनादि काल से कर्म बन्धन के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। जो जीव इस कर्म-बन्धन को तोड़ डालता है उसमें ही ईश्वर होने की शक्तियां प्रकट हो जाती हैं और वह ईश्वर बन जाता है। इस तरह ईश्वर किसी एक पुरूष विशेष का नाम नही है परन्तु अनादि काल से जो अनन्त जीव अर्हन्त और सिद्धपद को प्राप्त हो गये हैं और आगे होंगे, उन्हीं का नाम ईश्वर है।

जैन धर्म के ये ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, न सृष्टिसंचालन मे इनका हाथ है तथा न ही किसी का वे भला-बुरा करते हैं। न वे किसी के स्तुति वाद से ऐसी सांसारिक वस्तु है, जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें, न वे किसी को उसके अपराधों का दण्ड देते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयसिद्ध है। जीव अपने-अपने कर्मो के अनुसार स्वयं ही सुख:दुख पाते हैं। ऐसी अवस्था मुक्तात्माओं और अर्हन्तों को इन सब झंझटों में पड़ने की आवश्यकता ही नही है, क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा।"[11]

मेरठ विश्व विद्यालय, मेरठ

सन्दर्भ-सूची

१. आदि पुराण,प्रकरण तीन (सी०जे० शाह द्वारा उद्धृत, पूर्वो पृ०३५

२. डा० मगलदेव शास्त्री, (ईश्वर शब्द का महत्वपूर्ण इतिहास"

३. डा० मंगलदेव शास्त्री, ईश्वर शब्द का महत्वपूर्ण इतिहास।

४. अधिरीश्वरे १/४/६/७ स्वामीश्वराधिपतिः २/३/३६ यस्मादधिकं यस्यचेश्वर वचनं तत्र सप्तमी २/६/६, ईश्वररेतो सुनकसुनौ ३/४/२३, तस्येश्वरः ६/१/४२, उक्त सूत्रों के उदाहरण।

५. तथया लोक ईश्वर आज्ञापयति ग्रामादस्मान्मनुष्या अनीयन्तामिति।

६. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा "चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ" पृष्ठ ३२८

७. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, "चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ" पृष्ठ ३ २ ६.

८. क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः। न रागद्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ।। ६ ।।
— समन्तभद्र, रत्नरण्ड श्रावकाचार"

६. श्री गुलाबराय, "पाश्चात्य दर्शन का इतिहास', पृष्ठ ५३.

१०. सुमेरचन्द्र दिवाकर, "जैन शासन का धर्म", पृष्ठ १६-२०.

११. श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ ११४-११५.

(आवरण पृ० २ का शेषांश)

होने पर किसका भय रहा ? जनता भोली है इसलिये कुछ कहती नहीं, यदि कहती है तो उसे धर्मनिन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है तो किसी को बीसपथ और तेरहपंथ का। किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है तो कोई शूद्र जल त्याग के पीछे पड़ा है। कोई स्त्री प्रक्षाल के पक्ष में मस्त है तो कोई जनेऊ पहिराने और कटि में धागा बधवाने में व्यग्र है। कोई ग्रंथमालाओं के सचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रंथ छपवाने की चिन्ता में गृहस्थों के घर-घर से चन्दा मांगते फिरते हैं। किन्ही के साथ मोटरें चलती हैं तो किन्ही के साथ गृहस्थ जन दुर्लभ कीमती चटाइयां और आसन के पाटे तथा छोलदारियां चलती हैं। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिये आश्रय या उनकी सेवा में लीन रहते हैं। 'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों चूके' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बनकर आंख मींच चुप बैठ जाते हैं या हां में हां मिला गुरुभक्ति का प्रमाणपत्र प्राप्त करने में सलग्न रहते हैं। ये अपने परिणामों की गति को देखते नहीं हैं। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के समान है। जहां प्रकाश है वहां अन्धकार नहीं और जहां अन्धकार है वहां प्रकाश नही। इसी प्रकार जहां चरित्र है वहां कषाय नहीं और जहां कषाय है वहां चारित्र नहीं। पर तुलना करने पर बाजे बाजे व्रतियो की कषाय तो गृहस्थो से अधिक निकलती है। व्रती के लिए शास्त्र में निःशल्य बताया है। शल्यों में एक माया भी शल्य होती है। उसका तात्पर्य यही है कि भीतर कुछ रूप रखना और बाहर कुछ रूप दिखाना। व्रती में ऐसी बात नही होना चाहिए। वह तो भीतर बाहर मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात करो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ। उत्सूत्र प्रवृत्ति से व्रत की शोभा नहीं। (मेरी जीवन गाथा से)

श्रमण संस्कृति एवं उसकी प्रमुख विशेषताएं

□ सुरेन्द्रपाल सिंह, प्रवक्ता इतिहास विभाग

श्रमण संस्कृति के विषय में कुछ लिखने से पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति किसे कहते हैं। किसी समाज की रचना उसके आन्तरिक आचार सगठन पर निर्भर करती है। संस्कृति को उस समाज की आचार संहिता कह सकते हैं, क्योकि संस्कृति के बिना समाज-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति समाज की पथ-प्रदर्शिका होती है। संस्कृति समाज तथा व्यक्ति को समुन्नत बनाती है और उसको दोष मुक्त करती है। प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति ही संस्कृति है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश के धर्म, दर्शन, विचार, संगीत कला आदि पर आधारित होती है। इन्ही विविध रूपों द्वारा संस्कृति अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। भारत की प्राचीन संस्कृति इस देश के निवासियों की कृति में निहित है। भारतीय मनीषियों की अविरल साधना का प्रतिफल ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, काव्य, कला, भाषा, शिक्षा और शिल्प आदि संस्कृति के अंग हैं।

संस्कृति का अर्थ संस्कार सम्पन्न जीवन है। वह जीवन जीने की कला है, पद्धति है। वह आकाश में नहीं, धरती पर रहती है, वह कल्पना में नही जीवन का ठोस सत्य है। बुद्धि का कुतूहल नहीं किंतु एक आदर्श है। संस्कृति एक ऐसा विराट् तत्त्व है, जिसमे सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। मानव जीवन के ज्ञान, भाव और कार्य यह तीन पक्ष हैं जिसे दूसरे शब्दों में बुद्धि, हृदय और व्यवहार कहा जा सकता है। इन तीनों तथ्यों का जब पूर्ण समन्वय होता है तब संस्कृति का जन्म होता है। संस्कृति मानव-जीवन का सौन्दर्य है, सौरभ है, संस्कृति जीवन का मिठास है, गरिमा है। जितनी संस्कृति अपनाई जायेगी उतना ही जीवन महान् बनेगा। जिस समाज और राष्ट्र की संस्कृति प्राणवन्त है, उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। वह ध्रुवतारे की तरह सदैव चमकता रहेगा।

श्रमण संस्कृति :—

भारत वर्ष मे दो संस्कृतियों की प्रधानता रही है। जिनके सयुक्त रूप को भारतीय संस्कृति कह सकते हैं। इन संस्कृतियों के नाम हैं—१. श्रमण संस्कृति तथा २. वैदिक सस्कृति। वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही है और इनको एक दूसरे की पूरक कहा जा सकता है। श्रमण संस्कृति के तपस्वियो को श्रमण मुनि तथा वैदिक संस्कृति के तपस्वियों को संन्यासी, ऋषि आदि नामों से सम्बोधित किया जाता रहा है।

श्रमण शब्द का अर्थ :— श्रमण शब्द का प्रयोग जैन मुनियों एवं बौद्ध भिक्षुओं दोनों के लिए ही किया जाता रहा है। जो श्रम करता है, कष्ट सहता है अर्थात् तप करता है वह तपस्वी श्रमण है।[१] जिसके मन में समता की सुरसरिता प्रवाहित होती है, वह न किसी से द्वेष करता है न किसी से राग करता है, अपितु अपनी मन: स्थिति को सम रखता है वह श्रमण कहलाता है।[२] श्रमण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल को देखकर खिन्न नहीं होता, अपितु सदैव मान और अपमान में सम रहता है।[३] उत्तराध्ययन में कहा है "सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नही होता किंतु समता का आचरण करने से ही श्रमण है।[४]

इस प्रकार जैन संस्कृति की साधना समता की साधना है। समता समभाव, समदृष्टि एवं साम्य भाव ये सभी जैन संस्कृति के मूल तत्व हैं। निघण्टु में श्रमण का अर्थ नग्न दिगम्बर ही किया गया है। यथा—

"श्रमणा दिगम्बरा: श्रमणा वातरशना (वसना)"

—भूषण टीकायाम इति निघण्टु।

इन श्रमणों का इस देश में रहने का कारण यही था कि दिगम्बर वेश भारतीय संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ एवं परम वन्दनीय अवस्था मानी गई है। आचार्य सोमदेव सूरि लिखते हैं कि "लोक मे नग्नत्व सहज है, स्वाभाविक है। वस्त्रों से शरीर का आच्छादन विकार है।"[५]

वैराग्यशतक में भी इस प्रकार की प्रार्थना की गई है कि "हे शम्भो! वह समय कब आयेगा जब मैं एकाकी, इच्छा रहित, शान्त, करपात्रधारी, दिगम्बर, होकर कर्म-निर्मूलन (निर्जरा) करने में समर्थ होऊंगा।[६] तैत्तिरीय आरण्यक मे भगवान ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमथी कहा गया है।[७] श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है, 'स्वयं भगवान विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास मे महारानी मरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।[८]

इस प्रकार श्रमण सस्कृति के प्रणेता प्राकृतिक (नग्न) वेष मे विचरण करते थे और हर प्रकार के व्यसन से मुक्त थे। उनको किसी भी पदार्थ की इच्छा नही थी तथा वे समत्व भाव को प्राप्त कर चुके थे। इन्ही उच्च आदर्शों एव उज्ज्वल चरित्र के कारण जन साधारण तथा राजा महाराजाओं मे वे पूजनीय समझे जाते थे। राजा जनक उन्हें बड़े सम्मान के साथ आहार कराते थे।[९] आत्म विद्या विशारद भी यही श्रमण थे।[१०]

श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति:—श्रमण संस्कृति का वैदिक संस्कृति पर बहुत प्रभाव पड़ा। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।"[११] श्रमण मुनि तथा वैदिक संस्कृति के प्रतीक ऋषि शब्द की विशेषता तथा दोनों संस्कृतियों के मध्य अन्तर का उल्लेख करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है कि "इस प्रकार मुनि शब्द के साथ ज्ञान, तप और वैराग्य जैसी घटनाओं का गहरा सम्बन्ध है।" मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। श्रमण संस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त हुआ है। पुराणों में जो वैदिकता की धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि शब्द का प्रयोग बहुत कुछ मिले-जुले अर्थ में होने लगा था। दोनों संस्कृतियों में ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिक संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी, तो श्रमण संस्कृति अथवा मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखलाई दी।[१२]

इस प्रकार श्रमण संस्कृति में सहिष्णुता, अहिंसा, निरामिषता की प्रमुखता थी, जबकि वैदिक संस्कृति में असहिष्णुता, कर्मकाण्ड की प्रधानता तथा वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' थी। अतः दोनों संस्कृतियो में पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। डा० गुलाबराय ने श्रमण एवं वैदिक संस्कृतियों के आदान-प्रदान का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है, "वैदिक और श्रमण संस्कृति में सामजस्य की भावना के आधार पर आदान-प्रदान हुआ और इन्होने भारतवर्ष की वैदिक एकता बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन में किया।[१३]

श्रमण संस्कृति तथा वैदिक सस्कृति दोनो ने भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में अपना अपना योगदान दिया और उसको सम्पन्न बनाया। इनमें भी श्रमण संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को अमरत्व प्रदान किया। इसने सहिष्णुता, अहिंसा, त्याग, उदारता, सत्य, अपरिग्रह, विश्व-बन्धुत्व एवं सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र आदि अमूल्य रत्नों से विभूषित किया। इस विषय में श्री वाचस्पति गैरोला का कथन बहुत ही उपयुक्त है—"भारतीय विचारधारा हमें आदिकाल से ही दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है।" पहली विचारधारा परम्परा मूलक ब्राह्मणवादी रही है, जिसका विकास वैदिक साहित्य के बृहत् रूप में प्रकट हुआ। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थ मूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमण प्रधान रही है, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गई। ये दोनों विचार-धाराएं एक दूसरे की प्रपूरक भी रहीं और विरोधी भी। इस राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाए रखने में इन दोनों का समान एवं महत्वपूर्ण स्थान है। पहली ब्रह्मवादी विचारधारा का जन्म पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश

में हुआ और दूसरी श्रमण प्रधान विचारधारा का उद्भव आसाम, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के व्यापक अञ्चल में हुआ। श्रमण प्रधान विचारधारा के जनक थे जैन।"

श्रमणसंस्कृति की विशेषतायें :—

श्रमण संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में अपना अपूर्व, प्राचीन और महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस संस्कृति में अपनी निज की अनेक विशेषतायें हैं, जिनके कारण इसने विश्व के सामने महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। इस संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं।

१. श्रम और तप :—श्रम और तप श्रमण संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें हैं। जो श्रम करता है, संयमित जीवन बिताता है वह श्रमण है। श्रमण मुनियों का जीवन आदर्श एवं त्यागपूर्ण होता है। उनका प्रत्येक क्षण तपश्चर्या-आत्म साधना में व्यतीत होता है। दिगम्बर मुनि (श्रमण) चर्या सुगम नहीं यह महाव्रती का जीवन है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह उनके महाव्रत हैं।

चारित्र की महत्ता :—श्रमण संस्कृति में चारित्र निर्माण पर पूर्ण बल दिया गया है। चारित्र आत्म विकास का स्रोत है। चारित्र के स्वरूप का अवलोकन करने और उसके सौरभ का पान करने के लिये चक्रवर्ती सम्राट् और स्वर्ग के देव-इन्द्र भी तरसते हैं। एक मात्र मनुष्य जन्म ही ऐसा श्रेष्ट है, जिसमे चारित्र को धारण कर रत्नत्रय के आधार से मोक्ष तक प्राप्त किया जा सकता है। ससार की समस्त परम्परायें रहे या जायें, कुछ बनता बिगड़ता नही, परन्तु यदि चारित्र रत्न चला गया तो आत्मविकास चला गया। ऐसा समझना चाहिये। चारित्र ही धर्म है। कहा भी है कि चारित्र के समान अन्य कोई परम तप नहीं है। यह चरित्र दो प्रकार का है —१"सकल चारित्र (श्रम सम्बन्धी चारित्र) २" विकल चारित्र (ग्रहस्थ सम्बन्धी चारित्र)

विषय परांङ्मुखता :—भोग भूमि काल में जब मनुष्य संस्कृति विहीन अवस्था में था तब वह विषयों की ओर दौड़ने मे सुख मानता था। उसे आत्म-परमात्म का बोध न था। कर्म भूमि के आदि में तीर्थंकर ऋषभदेव ने श्रम संस्कृति की आधार भूत असि-मसि-कृषि-वाणिज्य विद्या और शिल्प का उपदेश देकर मानव को 'जल में भिन्न कमलवत रहने' की शिक्षा दी और मोक्ष का द्वार खोला। उन्होंने बतलाया कि हे प्राणी तू संसार में जब तक रहे, आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी आवश्कता पूर्ति के साधनों से ममत्व मत कर, उन साधनों का अधिक संचय मत कर। तू विषय वासनाओं को नश्वर समझ। इसी मान्यता का प्रभाव संतोष और सुख की झलक के रूप में मिल रहा है।

जीओ और जीने दो :—इस सिद्धान्त का स्रोत श्रमण संस्कृति अथवा जैन परम्परा ही है। इस आत्म-सतोष के साथ पराये अधिकारों का परहित सरक्षण भी है। यदि मनुष्य चाहता है कि उसे कोई कष्ट न दे, उसके अधिकारों से बंचित न करे तो उसका मुख्य कर्तव्य है कि वह स्वयं जीये और दूसरों को भी जीने दे। इस भावना से चोरी जैसे पर दुखदायी और आत्म-पतन जैसे निन्द्य कर्म का त्याग भी होता है। परिग्रह के परिमाण और त्याग की भावना में उक्त सिद्धान्त अमोघ अस्त्र है।

सुख का मूल मन्त्र आत्मोपलब्धि :—सांसारिक नश्वर विषय वासनाओ से विरक्त हो अविनाशी परमपद मोक्ष प्राप्त करना जैन सस्कृति के श्रमणों का मूल उद्देश्य रहा है इसी का प्रतिफल है कि श्रमणों ने तार का भी परित्याग कर दिया है। जैन श्रावक (ग्रहस्थ) के आचार में इस आत्मोपलब्धि द्वार की झलक उसके अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षा व्रतो मे मिलती है। आत्मोपलब्धि श्रमण परम्परा में अनवरत रूप से पाई जाती है।

दिगम्बरत्व :—पदार्थो के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से ससार का प्रत्येक पदार्थ दिगम्बर रूप है। जब तक इस रूप की प्राप्ति नही होती पदार्थ के स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ जब तक अग्नि राख से ढकी रहती है, उसका तेज अप्रकट ही रहता है। वस्त्र आदि व्याधि हैं, यहां तक कि यह शरीर जो अपने साथ दृष्टिगोचर हो रहा है आत्मा का आवरण है। जब तक ऐसे सांसारिक पर पदार्थों से मोह नहीं छोड़ा जायेगा, इनका परित्याग नहीं किया जायेगा तब तक आत्मोपलब्धि नहीं हो सकेगी।

सुख-दुख में समता भाव :—मनुष्य के मन है। जब तक मन की क्रिया होती रहती है उसमें अच्छे बुरे सभी प्रकार के विकल्प उठते रहते हैं। इन्ही विकल्पों का नाम सुख-दुख है। ज्ञानी पुरूष इनमें राग-द्वेष नही करते। उनकी भावनाओं मे सुख मे मग्न न फूलें दुख में कभी न घबराये की ध्वनि ही गूंजती है। जैसे दिन के पश्चात रात्रि और रात्रि के पश्चात दिन होता है वैसे ही सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख का उदय होता है। ये वस्तु के अपने रूप नही, मानव की कल्पनाओ के रूप हैं और क्षणिक हैं। अत: श्रमण संस्कृति में क्षणिकत्व जैसे इन नश्वर विकल्पों पर हर्ष-विषाद के लिये कोई स्थान नही। जैन श्रमण मुनि और श्रावक दोनों ही सुख-दुख में समत्व भाव रखने के आदि बने। इसलिये पदार्थों के सत्य स्वरूप और अनित्य आवरण आदि भावनाओ का विषद और निर्दोष विवेचन श्रमण संस्कृति मे किया गया है।

नारी को प्रतिष्ठा :—नर और नारी ये दोनों रूप प्राकृतिक और अनादि नियम हैं। दोनों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। अत: श्रमण संस्कृति मे नारी की पूर्ण प्रतिष्ठा रही है। युग के अनादि तीर्थंकर ऋषभदेव की दो पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी तथा कालान्तर में समय-समय पर होने वाली अनेकों नारियों ने सामाजिक और धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में आदर्श उपस्थित कर यश अर्जन किया है। वे योग्य से योग्य माता, आदर्श नारी और सौम्यता की मूर्ति श्रमणी-साध्वी तक हुई हैं। अतीत से वर्तमान तक की धारा में होने वाली आदर्श नारियों में धर्मपरायण, पति परायण, आत्म परायणा सभी वर्ग की नारियाँ सम्मिलित हैं।

माता मरूदेवी, महारानी त्रिशला, रानी चेलना, महारानी सीता, द्रोपदी, चन्दनबाला, मैना सुन्दरी आदि सहस्रों सती नारियां ऐसी हुई हैं, जिन्हें पूर्ण सम्मान मिला और जिनकी यशोगाथा आज भी आदर्श रूप है।

संक्षेप में यही श्रमण संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें हैं। अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही श्रमण संस्कृति का यशोगान विश्व में होता रहा है। भारतीय श्रमण संस्कृति के उदात्त तत्वों के प्रति आस्था ही वर्तमान विश्व को संकट से परित्राण दिला सकती है। मानव जगत में मात्स्य न्याय की प्रवृति का निवारण इसी से हो सकता है। यह देन उन विश्ववन्द्य वीतराग तीर्थंकरों की है, जिन्होंने मनुष्य मात्र के कल्याण का मार्ग दर्शन किया। जो क्षेत्रीय; प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय रागों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के कल्याण का चिंतन करते थे। जिनकी चरण-छाया में बैठने वाले आचार्यों ने 'क्षेमं सर्व प्रजानाम्' लिखा, न कि किसी एक जाति विशेष को लक्ष्य करके हितोपदेश दिया।

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता :—श्रमण संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति है। यह संस्कृति सिन्धु, मिस्र, यूनान, बेबीलोने तथा रोम की संस्कृतियों से कहीं अधिक पुरातन है। भागवत का आद्यमनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ देव को दिगम्बर श्रमण और *ऊर्ध्वगामीमुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता माना है।* उन्होंने ही श्रमण धर्म को जन्म दिया था। उनके सौ पुत्रों मे से ६ पुत्र श्रमण बने।[१५] ऋषभदेव के सौ पुत्रो मे से ६ पुत्र बड़े भाग्यशाली थे। आत्मज्ञान में निपुण थे और परमार्थ के अभिलाषी थे। वे श्रमण दिगम्बर मुनि बन गये। *वे अनशन आदिक तप करते थे। जो स्वयं तपश्चरण* करते है वे श्रमण हैं।

ऋषभदेव के उपरान्त अनेक दिगम्बर जैन मुनियों ने इस श्रमण संस्कृति की धारा को प्रवाहित किया। सभी तीर्थंकर श्रमण थे और उन्होंने श्रमण धर्म का उपदेश दिया तथा इस संस्कृति में महान् योगदान दिया। ऋषभदेव से लेकर महाश्रमण वर्द्धमान महावीर तीर्थंकर तक श्रमण संस्कृति की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। श्रमण धर्म ही आगे चलकर जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रमण संस्कृति अथवा जैन धर्म की प्राचीनता सिन्धु घाटी में उत्खनन में प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति से स्पष्ट हो जाती है। सिन्धु सभ्यता के लोग ऋषभदेव की भी पूजा करते थे तभी तो वहां से उनकी मूर्ति प्राप्त हुई है।

डा० विशुद्धानन्द पाठक तथा डा० जयशंकर मिश्र का विचार है कि "विद्वानों का अभिमत है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से मिली *योगमूर्ति तथा* ऋषभदेव के कतिपय मंत्रो में ऋषभ तथा अरिष्टनेमी जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णु पुराण में मिलने

वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा जैन धर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।"[16] पद्मभूषण स्वर्गीय रामधारी सिंह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस प्रकार लिखा है "बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक बहुत प्राचीन है, बल्कि वह उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह हुए हैं। अन्तिम मनु नाभिराय थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव हुए जिन्होंने अहिंसा और अनेकान्तवाद आदि का प्रवर्तन किया। जैन पंडितों का विश्वास है कि ऋषभदेव ने ही लिपि का आविष्कार किया तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन जातियों को रचना की भरत ऋषभदेव के पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।"[17]

विश्वविख्यात दार्शनिक एव महानतम् विद्वान् डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भी जैन धर्म की प्राचीनता को स्वीकार करते हैं। वे लिखते है कि "जैन परम्परा ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक बताती है जो अनेकों सदी पूर्व हो चुके हैं। इस विषय के प्रमाण विद्यमान हैं कि ईसवी सन् से एक शताब्दी पूर्व व्यक्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्द्धमान अथवा पार्श्वनाथ तथा अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। भागवत पुराण से ऋषभदेव जैन-धर्म के संस्थापक थे, इस विचार का समर्थन होता है।"[18]

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता इस बात से भी सिद्ध होती है कि यजुर्वेद[19], अथर्ववेद[20], गोपथ ब्राह्मण[21] तथा भागवत[22], आदि वैदिक साहित्यिक ग्रन्थों में भी श्रमण संस्कृति के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। इन सब कारणों से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण संस्कृति विश्व की समस्त संस्कृतियों से प्राचीन है और यह प्रागैतिहासिक कही जा सकती है।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति ने भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया और इस देश के निवासियों को उच्च आदर्शों का पाठ पढ़ाया। इस संस्कृति ने विश्व को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के महाव्रतों की शिक्षा दी और विश्व शान्ति की स्थापना में अनुपम योग दिया। इसी कारण विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। —के०डी० कालेज, मवाना (मेरठ)

सन्दर्भ-सूची

१. श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्त इत्यर्थः।
—हरिभद्र सूरि, दशवैकालिक सूत्र, १७३

२. नात्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो ऐसो अन्नो वि पज्जाओ ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा., १५५

३. वही, १५६

४. उत्तराध्ययन, २५/२९-३०

५. नग्नत्व सहजे लोके विकारो वस्त्र वेष्टनम्।
—यशस्तिलक चम्पू, पृष्ठ ५

६ एकाकी निस्पृह शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्याणि कर्म निर्मूलन क्षमः ॥
—वैराग्य शतक, भर्तृहरि, ८९

७. तैत्तिरीय आरण्यक, २।७।१, पृष्ठ १३९

८. भागवत पुराण, ५।३।२०

९. तापसा भुंजते चा पि श्रमणाश्चैव भुंजते।
—बाल्मीकी रामायण १४, १-३

१०. श्रमणावातरशना आत्म विद्या विशारदाः।
—श्रीमद्भागवत, ११-२

११. श्री वाचस्पति गैरोला—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ८६

१२. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—प्राक्कथन जैन साहित्य का इतिहास पृष्ठ १३

१३. डा० गुलाबराय—'भारतीय संस्कृति', पृष्ठ ७५

१४. वही, पृष्ठ ७६

१५. नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिना।
श्रमणवातरशना आत्मविद्या विशारदाः ॥
—भागवत ११/२/२०

१६. डा० विशुद्धानन्द पाठक एवं डा० जयशंकर मिश्र-पु० भारतीय इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १९९.२००

१७. पद्मभूषण श्री रामधारी सिंह दिनकर—'संस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ, १२९.

१८. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—इंडियन फिलोसोफी वोल्यूम I पृष्ठ,२८७.

१९. ऋग्वेद—१०/१६/१

२०. अथर्ववेद—११/५/२४-२क

२१. गोपथब्राह्मण, पूर्ण—२/८

२२. भागवत—५/२८

प्रभावती रानी की कथा

वत्सदेश में एक रौरकपुर नगर है। वहां एक उद्दायन नाम का राजा राज्य करता था। उसके शुद्ध जैनमत को धारण करने वाली एक प्रभावती नाम की रानी थी। एक समय राजा किसी शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने को गये, तब रानी प्रभावती की धाय मंदोदरी सन्यास धारण कर वहां से चली गई। परन्तु थोड़े ही दिनों में वह अन्य बहुत-सी सन्यासिनियों के साथ आई और नगर के बाहर ठहरी तथा प्रभावती के निकट किसी स्त्री के द्वारा अपने आने के समाचार कहला भेजे। उस स्त्री ने जाकर कहा—मन्दोदरी आपको देखने के लिए आई है और नगर के बाहर ठहरी है। इसके उत्तर में रानी ने कहला भेजा—वह मेरे ही यहां आवे मैं नही आ सकती। यह सुनकर मन्दोदरी क्रोधित हो स्वयं उसके घर गई। परन्तु प्रभावती ने इसको न प्रणाम किया, न आसन से उठी; आसन पर बैठे ही बैठे उसके लिए आसन डलवा दिया। तब मन्दोदरी ने कहा—पुत्री, प्रथम तो मैं तेरी माता, दूसरे फिर तपस्विनी हो गई, फिर भी तू ने मुझे नमस्कार क्यों नही किया ? प्रभावती ने कहा—मैं सन्मार्ग (जैन मार्ग) को धारण करने वाली हूं और तू मिथ्यामार्ग को धारण करने वाली है, इसलिए मैंने प्रणाम नहीं किया। सन्यासिनी ने कहा—शिवप्रणीत (शैवमत) धर्म सन्मार्ग क्यों नहीं हो सकता ? रानी ने कहा—नही। इस तरह दोनो का बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। और अन्त में रानी ने मन्दोदरी को निरुत्तर कर दिया। तब वह क्रोधित हो वहा से चली गई और रानी का एक मनोहर चित्र खींच कर उसने उज्जयिनी के राजा चन्द्रप्रद्योत को जा दिखाया। चन्द्रप्रद्योत देखते ही आसक्त हो गया। किसी तरह वह भी सुन लिया कि राजा उद्दायन किसी राजा पर चढ़ाई करने गया है; वहाँ नही है। तब वह अपनी समस्त सेना ले रौरकपुर जा पहुंचा। नगर के बाहर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया और एक अति चतुर मनुष्य प्रभावती देवी के (रानी के) पास भेजा। उसने उसके आगे अपने स्वामी के रूप सौंदर्य के साथ साथ अनेक गुणों की खूब प्रशंसा की। रानी यह जवाब देकर कि भाई, उसके गुणों मे मुझे क्या ? मेरे तो उद्दायन को छोड़, और सब पुरुष पिता, पुत्र भाई के समान हैं, उस दूत को निकलवा दिया और उस राजा के सेवकों का आगे यहा आना सर्वथा बन्द कर दिया। बची हुई सेना नगर के दरवाजे बन्द कर, नगर की रक्षा करने के लिए किले पर जा बैठी। चन्द्रप्रद्योत ने नगर लेने का विचार कर, युद्ध प्रारम्भ किया। यह खबर सुन प्रभावती उपसर्ग मिटने तक का अनशन कर अपने इष्टदेव के मन्दिर में जा बैठी। इसी समय कोई देव आकाश से जाता था, उसने रानी का अवधिज्ञान के द्वारा कष्ट जान चण्डप्रद्योत की सारी सेना अपने माया बल से उज्जयनी पहुंचा दी और आप उसका रूप धारण कर रानी के शील की परीक्षा के लिए उद्यत हुआ। उसने अपनी विक्रिया ऋद्धि से सेना बना ली और माया से नगर की रक्षा करने वाली किले की सेना का नाश कर नगर मे प्रवेश किया। फिर नगर के मध्य भाग में उस जिन मन्दिर मे गया जहा कि प्रतिज्ञा करके प्रभावती ध्यानस्थ बैठी थी। मन्दिर में जाकर प्रभावती के सन्मुख अनेक पुरुषविकार भ्रू विक्षेपादिक किए, परन्तु उसका चित्त चलायमान न हुआ। तब देव ने अपनी माया समेट प्रभावती की पूजा की और संसार मे घोषणापूर्वक प्रकट करके कि यह महाशीलवती है, अपने स्थान को गया।

राजा उद्दायन ने लौटकर ये सब समाचार सुने। उसे बड़ा हर्ष हुआ। कुछ काल राज्य कर सुकीर्ति नाम के अपने पुत्र को राज्य दे वर्द्धमान स्वामी के समवसरण मे अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गया। प्रभावती आर्यिका हो गई। राजा उद्दायन तो घोर तप करके अष्ट कर्मों का नाश कर मोक्ष को गया और प्रभावती पांचवें ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई। इस तरह प्रभावती स्त्री होकर भी शील के प्रभाव मे दोनों लोकों में देवों से पूजित हुई, तो और भी भक्तजन जो इसको धारण करें, क्यों पूजित न होंगे ? अवश्य होंगे।

जैनत्व का मूल आधार - अपरिग्रह

भँवरलाल न्यायतीर्थ, संपादक : 'वीरवाणी'

"हम इकट्ठा करने में रहे और सब कुछ खो दिया। —यह एक ऐसा सत्य है जिसे लाखों-लाख प्रयत्नों के बाद भी झुठलाया नहीं जा सकता। हम जैसे-जैसे जितना परिग्रह बढ़ाते रहे वैसे-वैसे उतना 'जैन' हमसे खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधन-भूत श्रावकोचित आचार-विचार में भी शून्य जैसे हो गए।

लोगों ने जड़ों की खोजें की, उन्होंने सारा ध्यान उन पर शोध-प्रबन्धों के लिखने मे केन्द्रित किया, उन्हें प्रकाशित कराया और उन पर वे विविध लौकिक पारितोषिक पाते रहे। आत्मा की कथा करने वाले बड़े-बड़े वाचक भी परिग्रह-सञ्चयन मे लगे रहे और वे भी अहिंसा, दान आदि के विविध आयामों से विविध रूपों में परिग्रह-संचयन और मान-पोषण आदि मे लीन रहे जिससे वीतरागता का प्रतीक 'अपरिग्रहत्व-जैनत्व' लुप्त होता रहा। हमारी दृष्टि मे 'अपरिग्रहवाद' को अपनाने के सिवाय 'जैन धर्म' के संरक्षण का अन्य कोई उपाय नहीं।"

ये उद्गार हैं पं० पद्मचन्द जी शास्त्री दिल्ली के जिन्होने हाल ही मे अपनी नवीनतम कृति "मूल जैन संस्कृति—अपरिग्रह" नामक पुस्तक मे प्रकट किये हैं। उन्होने आज के जैन जीवन का चित्रण एक सही तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। जो धर्म निवृत्ति प्रधान था—आज वह प्रवृत्ति प्रधान हो गया है। निवृत्ति की बातें केवल शास्त्रों में रह गई हैं। अधिकाधिक संग्रह की ओर हम बढ़ रहे हैं। जहां त्याग की महत्ता थी—वहाँ ग्रहण-संग्रह बढ़ता जा रहा है। अन्तर और बाह्य में, भावों में और क्रिया में, यश ख्याति लाभ अर्जन में और भौतिक साधन जुटाने में हमारी शक्ति लग रही है। जरूरत और बेजरूरत का संग्रह बढ़ता जा रहा है। क्या यह अपरिग्रह का मखौल नहीं? जो धर्म अपरिग्रह प्रधान था—जिसका सारा ढांचा अपरिग्रह की नींव पर खड़ा हुआ था, आज—वहां परिग्रह से बेतहाशा लिपटते जा रहे हैं—तो कब तक टिक सकेगा—यह धर्म केवल बातों में। अपरिग्रह के गीत गावें और आचरण उसके विपरीत, यह क्यों?

लेखक ने अनेक शास्त्रों के उद्धरण देते प्रकृत विषय की पुष्टि की है और स्पष्ट किया है कि जैन संस्कृति का मूल-अपरिग्रह है।

हिंसा, झूंठ, चोरी और कुशील इन चारों पापों की जड़ परिग्रह है। "क्रोधादिकषायाणामार्त-रौद्रयोर्हिंसादि—पंचपापानां भयस्य च जन्मभूमिः परिग्रहः"—आचार्यों का यह वाक्य स्पष्ट है। परिग्रह का परिवार इतना बड़ा है कि उसमें सारी बुराइयां / सारे पाप गर्भित हो जाते हैं। सब अनर्थों का मूल परिग्रह है।

आश्चर्य इस बात का है कि हम हिंसा करने वाले को अपराधी मानते हैं—शासन भी उसे दण्डित करता है। इसी तरह झूंठ, चोरी भी पाप है—उनको करने वाला अच्छी निगाह से नही देखा जाता और दण्ड भी उसे मिलता है। व्यभिचारी को समाज में कोई आदर नहीं देता—वह बदनाम होता है, भले लोग उसकी सोहबत में नहीं बैठते। इसी तरह पांचवां पाप परिग्रह है उसके बारे में लोग कुछ नही कहते। जो ज्यादा परिग्रही है, राजसी ठाट से रहता है, उसका समाज में आदर होता है—वह अगली पंक्ति मे बिठाया जाता है चाहे उसकी सम्पत्ति किसी भी मार्ग से आई हो। कैसी विषमता?

साधु संस्था में भी इस परिग्रह ने अपना काफी स्थान बना रखा है—कूलर, हीटर का उपयोग, मन्दिर, मूर्ति, संघ संचालन आदि के लिए अर्थव्यवस्था, संघ को बढ़ाने का आचार्य बनने का मोह—जयन्तियां मनाने का लोभ, ख्याति लाभ, यश की भावना आदि परिग्रह ही तो हैं। यह बात नहीं है कि सभी ऐसे हैं—इन बातों से दूर

भी अनेक साधु हैं—पर आचार में शिथिलता परिग्रह के कारण ही आई है।

आज के परिप्रेक्ष्य में हम सोचें तो स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि सब अनर्थों की जड परिग्रह है।

आततार्ई क्यों गुण्डागिरी करता है—कि उसे पैसा चाहिए, आतंकवादी क्यों प्राण लेता है कि उसे अभीष्ट सिद्धि हेतु दूसरों को डराना है। अर्थ के प्रति मोह यानी अर्थ संग्रह हेतु ही भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी, गबन, बेईमानी, मिलावट, अपहरण, धोखाधड़ी आदि बुराइयां फैल रही हैं। दहेज प्रथा भी तो इसीलिए बढ़ रही है।

गर्ज यह है कि सब अनर्थों का मूल परिग्रह है। आज हमारी जरूरतें इतनी बढ़ा ली गई है कि उनकी पूर्ति हेतु साधन जुटाने में ही हमारी शक्ति लगती है और वह बिना पैसे के सम्भव नहीं। फिर वह पैसा कहीं से भी आवे—सीधे रास्ते से आवे या टेढ़े से, सही या गलत कोई भी मार्ग हो मनुष्य उसे अपनाता है। यह युग अर्थ प्रधान बन गया है। स्टैण्डर्ड शब्द ऐसा चल गया है—कि हर आदमी अपना स्टेण्डर्ड कायम रखने की फिराक मे है और उसके लिए परिग्रह संजोता है। सादगी सादा जीवन आज का स्टैण्डर्ड नहीं रहा। साधारण सात्विक भोजन करना, यानी मोटा खाना, मोटा पहनना यह स्टैण्डर्ड नहीं। स्टैंडर्ड मेनटेन करने हेतु सब कुछ करना पड़ता है—और उसमें मुख्य परिग्रह में बढ़ोतरी ही है। और उसी के लिए सारे धंध फंद करने पड़ते हैं।

यह स्पष्ट है कि यदि परिग्रह नहीं रहे तो कोई पाप नहीं रहता। अन्तरंग और बाह्य परिग्रह छूट जाय तो वह शुद्ध दशा प्राप्त हो जाती है। लेखक ने बताया है कि हिंसादि करते हुए भी हम व्रती कहलाते हैं किन्तु परिग्रह के लिए परिग्रह परिमाण ही कहा जायगा, उसके साथ व्रत शब्द नहीं जोड़ा जाता।

जैन सिद्धांत में कर्म फिलासफी को प्रमुख स्थान है—पर कर्म शुभ या अशुभ दोनों ही संसारवर्द्धक है। लेखक ने इन्हें भी परिग्रह ही बताया है। सचमुच हैं भी ये परिग्रह ही। अतः आवश्यकता है परिग्रह त्यागने की छोड़ने की—जितना हम छोडते जायेंगे—उतनी ही बुराइयां मिटती जायेंगी। लेखक ने इस छोटी-सी पुस्तक में इस तथ्य को खब खोला है। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार प्रसार आवश्यक है।

विन्ध्यश्री कन्या की कथा

वाराणसी के राजा अकम्पन और रानी सुप्रभा की पुत्री सुलोचना जैनधर्म की परमभक्त और सम्पूर्ण कलाओं में कुशल थी। वह विद्याओं का अभ्यास करती हुई सुख से रहती थी कि इतने में अकम्पन के मित्र विन्ध्यपुर के राजा विंध्यकीर्ति, रानी पियगुश्री की पुत्री विंध्यश्री उसके पिता ने सुलोचना को लाके सौंपी और कहा कि इसको पढ़ा लिखा कर सकल कलाओं मे प्रवीण करो। पश्चात् विंध्यश्री पुत्री सुलोचना के पास सुख से रहने लगी।

एक दिन सुलोचना ने उसे महल के उद्यान मे फूल चुनने के लिए भेजा कि वहां एक काले सांप ने निकल कर उसे डस लिया। सो सुलोचना के दिये हुए पंचनमस्कार मन्त्र के प्रभाव से गंगाकूट निवासिनी गंगादेवी हुई। सो अपनी उपकार करने वाली का स्मरण करके उसने सुलोचना के पास आकर उसकी पूजा की, और फिर अपने स्थान में आकर सुख से काल बिताने लगी।

□□

ज़रा सोचिए !

१. "जैन" का प्रयोग कहां ?

आज कई लोग "श्रावक" और "जैन" दोनों दर्जों में अभेद कर रहे हैं, जबकि दोनों दर्जे पृथक पृथक हैं। "जैन धर्म" जिन भगवान के स्व-धर्म से संबंधित है। पूर्ण जय को प्राप्त कर लेने से 'अरहंत'—'सिद्ध' 'जिन' हैं व जय के लिए मूर्तरूप में प्रयत्नशील अपरिग्रही आचार्य, उपाध्याय और साधु "देश-जिन" हैं। कहा भी है—"जिणा दुविहा सयल देसजिणाभेएण। खवियघाइकम्मा सयल जिणा। के ते ? अरहंत-सिद्धा। अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देसजिणा तिव्व कसायेंदिय-मोह विजयादो ?"

—धवला ६/४/१/१/१०

"जिन" दो प्रकार के हैं—"सकलजिन" और "देश-जिन" घाति कर्मोंका क्षय करने वाले अरहंतों और सर्वकर्म-रहित सिद्धों को "सकलजिन" कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियों की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को "देशजिन" कहा जाता है।

उक्त दोनों प्रकार के जिनों का धर्म "जैन" उन्हीं में है। यतः धर्मी से धर्म अलग नहीं होता और ना ही धर्म, धर्मी को छोड़ता है। इस प्रकार "जिन" ही "जैन" ठहरते हैं। उक्त परिप्रेक्ष्य में जो संसारी, परिग्रही अपने को "जैन" घोषित कर रहे हैं, वे शोचनीय हैं "जैन" की व्याख्या में कहा गया है—

"जधजाद रूवजादं उप्पाडित केसमंसुगं सुद्धं
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंग
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भव कारणं जेण्हं॥"

—प्रवचनसार ३/५-६

जेण्हं—"जिनस्यसंबंधीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्।"

—वही, तात्पर्य वृ.

"सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः—गणधरदेवादयः इत्यर्थः।

—नियमसार ता. वृ. गा. १३६

कविवर वृन्दावनकृत छन्दोबद्ध प्रवचनसार भाषा में लिखा है :

"पर दर्वमांहि मोहममतादि भावनि को,
जहां न आरभ कहूं निरारंभ तैसो है।
शुद्ध उपयोगवृन्द चेतनानुभावजुत,
तीनों जोग तैसो तहाँ चाहियत जैसो है॥
परदर्व के अधीन बर्तत कदापि नाहिं
आत्मीक ज्ञान को विधानवान वैसो है।
मोक्ष सुखकारन भवोदधि उधारन को
अंतरंग भावरूप जैनलिंग ऐसो है।"

अर्थात् निर्ग्रन्थ, अपरिग्रही, लोच करने वाले, शुद्ध, हिंसादि से रहित, सज्जा आदि क्रियाओं से रहित, मुनीश्वर का लिंग वेश जैन की पहिचान का बाह्य चिह्न है और ममत्वभाव व आरंभ रहित, ज्ञानादि उपयोगों में शुद्धता, उपयोग वशीकरणता, पर से निरपेक्षता और मोक्ष का कारण भूतपना रूप "जैन" का आभ्यंतर चिह्न है। "जिन" से संबंधित—जिन-प्ररूपित सिद्धान्त भी "जैन" है। "सकलजिन" अर्थात तीर्थंकरों के पादपद्मों में रहने वाले गणधर आदि "जैन" है।

"जेणाणं" पुणवयणं "यह पद गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८९५ में आया है। वहां "जैनों के वचन" जैसे कथन से अरहंत व निर्ग्रन्थ मुनियों के "जैन" होने की पुष्टि होती है, क्योंकि धर्म का विवेचन उन्हीं के द्वारा हुआ है। इसी प्रकार जैन-नय, जैन-दर्शन, जैन-वच सभी में "जैन" शब्द अपरिग्रही पंचपरमेष्ठियों को इंगित करता है, किन्हीं परिग्रहियों को नहीं। तथाहि—

"भेदं भूरि विकल्पजालकलितं जैनान्नयात् नैगमात्।"

—आचारसार १०/२८

"जैनंदर्शनमेकमेवशरणं" जन्माटवी संकटे।"

—आचारसार १/२

"दूरासन्नसमं विलम्बं जैनं वचः पातु वः।"

—आचारसार १/१

श्री समयसार कलश २६३ में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने जैन-शासन को अलंघ्य कहा है। वहां भी जैन के शासन से जिनदेव के शासन का बोध होता है

"एवं तत्त्व व्यवस्थित्या स्व व्यवस्थापयन् स्वय।
अलंघ्य शासनं जैन मनेकान्तो व्यवस्थित: ।।"

इन्हीं अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपायके २२५वें श्लोक में "जैनीनीति" शब्द दिया है, उससे भी स्पष्ट होता है कि "जैन को सभी जगह अरहतों, परमेष्ठियों के लिए प्रयुक्त किया गया है, किन्हीं परिग्रहियों के लिए नहीं, जैसा कि आज चल रहा है। यहाँ भी "जैनीनीति' से जिनेन्द्र की नीति का ही भाव है।

"एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्व मितरेण।
अन्तेन जयति जैनी-नीति मंन्थाननेत्रमिव गोपी।"

उक्त परिपेक्ष्य में प्रश्न यह उठता है कि यदि धवला में निर्दिष्ट और अन्य प्रमाणों के आधार पर परमेष्ठियों तक ही "जैन" शब्द सीमित है तो "जिन" को देवता मानने वाले हम क्या कहे जाएंगे और सागार-धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका आदि के वाक्य "जिनो देवता येषां ते जैना:" का क्या होगा ?

उपर्युक्त प्रश्न के निराकरण में हमे प्राचीन परम्परा पर दृष्टिपात करना होगा और यह भी देखना होगा कि अपरिग्रही जय-शील "जिन" के प्रति प्रयुक्त होने वाला "जैन" शब्द संसारासक्त परिग्रहियों के लिए कैसे प्रयुक्त होने लगा।"

जहा तक प्राचीन परम्परा का प्रश्न है, सो पहिले जिन भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म की परम्परा में उसके उपासकों के लिए समण, सावग, अणगार, आगार शब्द प्रचलित थे। सावग के लिए समणोपासग शब्द भी प्रचलित था। पर, धीरे-धीरे ये शब्द बिगड़ते गए और सावग (श्रावक) का स्थान सरावग, सरावगी जैसे शब्दों ने ले लिया—"सराक" शब्द भी बिगड़े शब्द का रूप है। बाद में उक्त शब्दों का व्यवहार भी लुप्त हो गया और उक्त शब्द शास्त्रों की परिधि में ही सीमित रह गए। तब इधर लोगों ने अन्य मतों की देखा-देखी उपासकों के लिए "जैन" का प्रयोग चालू कर दिया, फिर चाहे वे उपासक भ्रष्ट ही क्यों न हों— सभी समुदाय रूप में "जैन" कहलाए जाने लगे।

स्मरण रहे कि मत-मतान्तरों में व्यक्ति की उपासना को प्रधानता है, शिव व्यक्ति को देवता मानने वाले को शैव, विष्णु व्यक्ति को देवता मानने वाले को वैष्णव, बुद्ध व्यक्ति को देवता मानने वाले को बौद्ध कहा जाता है—ऐसा प्रचलन है।[1] उसी प्रकार इधर भी "जिन" के उपासकों को "जैन" नाम दे दिया गया।[2] पर, विचार की दृष्टि से यह ठीक नहीं हुआ। जैसे शिव, विष्णु, बुद्ध आदि देवताओ के नाम "नाम;निक्षेप" पर आधारित है—उनमे गुण, कार्य की विवक्षा नहीं क्योंकि—"अतद्गुणिनि वस्तुनि संज्ञा करणं नाम" इस नाम निक्षेप मे तो व्यक्ति नाम से विपरीत गुणों वाला भी हो सकता है। लक्ष्मीनारायण नाम वाले को कभी सड़क पर भीख मांगते हुए भी देखा जा सकता है। फलत: वहां किसी व्यक्ति का उपासक कोई व्यक्ति, नाम-निक्षेप से, शैव, वैष्णव, बौद्ध हो सकता है, इसमें कोई अड़चन नहीं। पर, यह सब होकर भी उनका उपासक लाख-प्रयत्न के बावजूद भी स्वय शिव, विष्णु, बौद्ध नही बन सकता—तद्रूप गुणों को प्राप्त नही कर सकता। लेकिन जैन-दर्शन मे ऐसा नही है। यहां गुणों की मुख्यता होने से सच्चा उपासक "जिन" नाम और "जिन" जैसे गुण-धर्म दोनों प्राप्त कर सकता है। यत: "जिन" नाम तो गुणों पर आधारित है। जय करने से "जिन" होते हैं— इस नाम में गुणों की मुख्यता है और यहां गुणों की उपासना का विधान है। फलत:—"जिन" के उपासक जय-गुण की ओर अग्रसर होने पर ही "जिन" और तद्गुण धारी "जैन" हो सकने हैं। इन्हीं गुणों के कारण आचार्य, उपाध्याय, साधु को "देश-जिन" -कहा गया है—पूर्ण जिन और "जैन" तो अरहंत, सिद्ध ही है। यही कारण था कि यहां साधारण उपासकों को "जिन"

---

१. "शिवो देवता येषां ते शैवा: विष्णु देवता येषां ते वैष्णवः बुद्धो देवता येषां ते बौद्धा:।"

२. जिनो देवता येषां ते जना:।"

"जैन" नाम न देकर समण, सावग (श्रावक) संज्ञाएं पृथक से निर्धारित की गई।

दुर्भाग्य कहिए या मत-मतान्तरों वत् कल्पित "जिनो देवता: येषां ते जैना:" इस परिभाषा के कारण समझिए, जो आज सर्व साधारण जयनशील क्रिया-गुण के बिना (अन्यों की भांति नाम निक्षेप में) अपने को "जैन" कहने लगे हैं। उनमें जो कुछ उपासक हैं उनमें भी अधिकांश "जिन" को व्यक्ति मान पूज रहे हैं—उनसे सांसारिक मनौतियां मांग कर भी जैन बने हुए हैं—उन्हें गुणों से कोई भी सरोकार नहीं। प्रकारान्तर से वे "जिन" को आज भी कर्ता माने हुए हैं। जरा सोचिए, ऐसा क्यों?

२. एक व्यापार : आत्मा को देखना दिखाना

एक नट अपने चेले को साथ लेकर किसी मैदान में पहुंचा और ढोल बजाकर भीड़ इकट्ठी कर ली। भीड़ के बीच खड़े होकर उसने चेले को संबोधन दिया—जमूड़े, देख, मैं जमीन में लम्बा बांस गाड़ता हूं, तुझे उस पर चढ़ना है। बोल तू चढ़ेगा? चेला बोला—हां उस्ताद, मैं तैयार हूं। नट खाली हाथों खड़ा हो गया। वह बिना बांस के ही जमीन में झूठ-मूठ का बांस गाड़ने का ऐक्शन करने लगा। थोड़ी देर बाद उसने चेले से कहा—चेले, तू देख रहा है ये बांस गड़ गया, अब तू इस पर चढ़ जा। चेला बोला—उस्ताद, यह बांस तो बहुत ऊंचा है, बिना रस्सी बांधे मैं कैसे चढ़ सकूंगा? नट ने कहा अच्छा, रस्सी भी लटकाए देता हूं। नट ने जैसे खाली हाथों बांस गाड़ने का एक्शन किया वैसे ही रस्सी बांधने का एक्शन कर दिया ओर चेले से रस्सी पकड़ कर चढ़ने को कहा। देखते-देखते चेला भी एक्शन मात्र करके बांस के ऊपर पहुंच लेने की बात करने लगा हालांकि वह अब भी नट के पास जमीन पर ही खड़ा था वह नट से बोला—उस्ताद, मैं बहुत ऊंचे आ गया, उतारो, मुझे डर लग रहा है। उस्ताद ने उसे एक्शन में जमीन पर उतार लिया। लोगों ने यह सब मिथ्या स्वांग देखा और बोले यहां न बांस है, न रस्सी है और न चेला ही चढा उतरा, तू लोगों को धोखा दे रहा है। नट बोला—यहां सब कुछ है और सब कुछ हो गया, तुम्हें नहीं दिखा तो मैं क्या करूं? चेला बोला—उस्ताद, ये सब तो आंख, वाले ही देख सकते हैं, इनके तो आंखें ही नहीं है, चलो और कहीं आंखों वालों में दिखाएंगे। वे दोनों चले गए और भीड़ भी छंट गई।

तो यह तो एक दृष्टांत है। जैसे अरूपी आकाश दिखाई नहीं देता, पकड़ में नहीं आता और नट उसमें बांस गाड़ने, रस्सी बांधने और जमूड़े को चढ़ाने-उतारने जैसे मिथ्या करतब दिखाने के मिथ्या-स्वांग भरता है वैसे ही कुछ लोग वर्षों से और आज भी जनता को अरूपी आत्मा को देखने-दिखाने की मिथ्या बातों में भरमा रहे हैं। वे पूर्वाचार्यों की दुहाई देकर जोर-जोर से कहते हैं कि—ए भाई, तू आत्मा को देख, समझ आदि। जबकि आचार्य इससे सहमत नहीं। वे तो स्पष्ट कह रहे हैं कि आत्मा वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, अरूपी पकड़ मे नही आता—वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्चया जीवेणो संति अमुत्ति तदा। 'आत्मा तो" स्वानुभूत्या चकासते – अपनी अनुभूति से स्वयं ही स्वयं में प्रकाशित है और होता रहा है। हां, जब तक पर—में लीनता है तब तक स्वानुभूति नहीं होती। भला, हो भी कैसे सकती है? जब तक संसारी जीव पर—परिग्रह रूपी विकारी भावों में है तब तक आत्मोपलब्धि कैसे? फिर आत्मोपलब्धि सुलभ भी तो नही है। अनादि संसारी जीव ने तो चिरकाल से काम, बन्ध, भोग की कथा की है और मलिन भावों में सुखाभास को सुख रूप अनुभव किया है—

"चिर परिचिदानुभूदा सव्वस्स वि काम-बंध-भोग कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥"

सो यह जीव बारम्बार उन्हीं की ओर जाता है और असुलभ, एकत्व-विभक्त आत्मा में इसकी गति नहीं होती तथा संसार में उलझे हुए वह हो भी नहीं सकती।

फिर भी, कुछ लोग नट की भांति लोगों को मिथ्या-भ्रान्तियों में खींचने में लगे हैं और स्वयं भी नाटक कर रहे हैं। यदि लोग, चाहते हैं कि उन्हें आत्मानुभूति हो तो पहिले उन्हें उन वाह्यपदार्थों की असलियत को पहिचानना होगा जो उन्होंने अनादि से देखे, जाने और अनुभव किए हैं, पर गलत रूप में। उनके गुण-स्वभाव

को सम्यक् दिशा में जानना होगा। जब बाह्य-पदार्थों की असारता, अशुचिता आदि का सही बोध होगा तब आत्मानुभूति स्वयं हो जायगी—इसे अपरिचित, अरूपी, आत्मा को देखने-दिखाने की कोशिश न करनी पड़ेगी और पर पद से विरत हुए बिना इसे कुछ नहीं मिलेगा हमारे आचार्यों, तीर्थंकरों, महापुरुषों ने "स्व" की ओर दौड़ नहीं लगाई, पहिले वे पर से परिचित हुए, उन्होंने बारह भावनाओं का चितवन कर "पर" की असारता को जानकर उन्हें छोड़ा, तब आत्मानुभूति में अग्रसर हुए। वे जानते थे कि देखना, दिखाना, पकड़ना, पकड़ाना जैसे व्यापार सदा दूसरों से संबंध के लिए होते हैं। स्वयं को देखा और पकड़ा नहीं जाता, उसमें आया जाता है। यह "स्व" में आना तब होता है जब पर से विरत हो।

जब हम चिर-परिचित परिग्रह की असलियत जानने और उसके छोड़ने की बात कहते है तो लोग मुंह-भी सिकोड़ते हैं। वे अहिंसा आदि जैसी लौकिक प्रवृत्तियों की ओर दौड़ते हैं। वे जानते हैं कि जिस दुनियां में वे हैं वह परिग्रह-मयी और स्वयं परिग्रह हैं। उससे दूर होकर वे कहां जाएंगे? इस दुनिया में कोई उनकी बात भी न पूछेगा। उन्हें चिर-परिचित सांसारिक भोग भी कहां मिलेंगे, वे खाली खाली जैसे हो जाएंगे, उनकी लौकिक और झूंठी प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल जायगी। यदि श्रोताओं के हाथ से वक्ता और वक्ता के हाथों से श्रोता खिसक गए तो उन का अपना दिखावा-रूप व्यापार ही खत्म हो जायगा।

यद्यपि यह बात वक्ता और श्रोता दोनों ही जानते हैं कि लाख कोशिश करने पर भी अरूपी आत्मा उन्हें दिख न सकेगी, परिग्रह से विरत हुए बिना आत्मानुभूति न हो सकेगी। पर, फिर भी वे ससारासक्ति लिए, आत्मा को देखने-दिखाने के प्रचार जैसे व्यापारों मे लगे हैं और अधिक-परिग्रही अधिक रूप मे लगे हैं। ऐसा क्यों? क्या यह सच नही कि वे इस बहाने अपनी यश-प्रतिष्ठा के व्यापार को चमकाने और जो कुछ आवश्यकता से अधिक उन पर संचित है या होता है, उसे न छोड़ने के लिए कटिबद्ध हैं? पर ये सब विसंगतियां है, इनसे विराम लेना चाहिए।

यदि किसी को वास्तव मे कल्याण करना है तो पहिले उसे "जैन" बनने का प्रयत्न करना होगा और जैन बनने से पहिले श्रावक बनना होगा, आचार का पालन करना होगा, संसार-शरीर-भोगों की असारता को पहिचान कर उससे विरत होना होगा। ऐसा कदापि नही है कि संपदा बढ़ाता रहे, भोगों में डूबा रहे और आत्मा को देखने-दिखाने के गीत गाता रहे या "भरत जी घर ही में विरागी "जैसे स्वप्न देखता रहे—जैसा कि लोग आज कर रहे है। जरा सोचिए!

(आवरण पृ० ३ का शेषांश)

ने अपनी इस पुस्तक में इन दोनों संस्कृतियों के उद्भव तथा विकास की वैदिक मन्त्रों द्वारा सुचारू रूप से पुष्टि करके मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है जिससे भारतीय संस्कृति के अनुसंधान के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया है। वेदों में व्यापक रूप से सर्वत्र एक ही मंत्र में जहां इन्द्र तथा वरुण के गुणों एवं शौर्यपूर्ण कार्यों का विवरण मिलता है, वहां वे स्पष्टतया दो परस्पर समन्वयोन्मुख किन्तु सर्वथा भिन्न संस्कृतियों (अर्थात् ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृतियों) के उत्तम, अमर उद्गाता एवं संपोषक प्रतीत होते हैं। यह परम्परा ऋग्वेद काल से लेकर सभी वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों आदि में सहस्रों वर्षों तक निरंतर चलती रही है। इस अन्तर्निहित तथ्य को प्रथम बार सविस्तार उद्घाटित कर प्राच्यविद्या मनीषी डा० दीक्षित ने सर्वत्र ठोस प्रमाण एवं उद्धरण देकर सिद्ध किया है। ब्राह्मण संस्कृति और जैन संस्कृति की वेद प्रतिपादित ऐसी मौलिक व्याख्या पहली बार प्रस्तुत हुई है। यह ग्रंथ शोधार्थियों एवं अनुसंधित्सुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं सर्वथा उपादेय है। इस विषय के गंभीर अध्येताओं के लिए यह सन्दर्भ ग्रंथ के रूप में भी पठनीय, मननीय एवं अनिवार्य है।

गोकुल प्रसाद जैन, उपाध्यक्ष,
वीर सेवा मन्दिर,

ग्रन्थ-समीक्षा

१. महोत्सव-दर्शन :

लेखन : श्री नीरज जैन, सतना।

प्रकाशक : श्रवण बेलगोल दि० जैन मुजरई इन्स्टीट्यूशंस मैनेजिंग कमेटी।

साइज २०×२६×८ पृष्ठ : ४२१ मूल्य : १५० रुपये।

वर्तमान में प्रकाशन-व्यवसाय ने बड़ी तरक्की की है : साज-सज्जा मनोहारिता आकर्षक हो और छपाई बाइंडिंग बढ़िया हो, आदि; जैसे सभी आयामों में उक्त प्रकाशन भी उत्तम बन पड़ा है। सिद्ध-हस्त और मनीषा-पटु लेखक की कलम ने तो इसे चार चांद ही लगा दिए हैं। पाठक जब जब इसे पढ़ेगा तब तब भ० बाहुबली सम्बन्धी आद्यंत सभी झांकियां उसको भाव-विभोर किये बिना न रहेंगी—वह झूम उठेगा और जितनी बार पढ़ेगा उतनी बार ही उसे महा मस्तकाभिषेक जैसे अनेक पुण्य-प्रसंगों को प्रत्यक्ष देखने जैसा अनुभव होगा। ग्रंथ मे २७+२११ मनोहारी चित्र है। चित्रों को देखकर हमारी मनी में श्रद्धा जागी कि वे पुण्यात्मा और क्षेत्र-भूमियां आदि धन्य है; जिन्हें भ० बाहुबली-कथा प्रसंग से ग्रंथ में सजने का सौभाग्य मिला। दो चित्रों को हमने बड़े गौर से देखा—(१) इन्द्र सभा की एक छवि (चित्र ५७) और (२) विरागी नेमिनाथ को **आहार कराते हुए** आचार्य विमलसागर जी और मुनि श्री आर्य नन्दी जी (चित्र ६३) दोनों ही प्रसगो ने हमें विचार के लिए प्रेरित किया है—विचार कर फिर कभी लिखेंगे। कुल मिलाकर प्रकाशन बड़ा उपयोगी और सग्रहणीय है। लेखन और प्रकाशन में योग देने वाले सभी महानुभाव धन्यवादार्ह हैं।

—सम्पादक

२. सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचंद्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पादक मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन (लखनऊ), पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री (वाराणसी), पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री (कटनी), पं० नाथूलाल शास्त्री (इन्दौर), पं० माणिकचन्द्र चवरे (कारंजा); प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला (वाराणसी) एवं डा० देवेन्द्र कुमार जैन (नीमच); पृ० ३८०, मूल्य एक सौ रुपए; प्रकाशक—सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

सिद्धान्ताचार्य प० फूल चन्द्र जी भारतीय मनीषियों में बहुश्रुत विद्वान् है। आप सरलता की प्रतिमूर्ति है। गत अर्धशती से सतत साहित्य साधना में निरत रहे हैं। आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी, जैन कर्म सिद्धांत के प्रकाण्ड व्याख्याता, अध्यात्मविद्या के प्रमुख वेत्ता, आगम साहित्य के निष्काम सेवक एवं विचक्षण और अगाध प्रतिभा सम्पन्न हैं।

आपके समुचित सत्कारार्थ प्रणीत प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में पंडित जी के अभिवादन और संस्मरणों के अतिरिक्त उनका जीवन परिचय, व्यक्तित्व और कृतित्व एवं उनकी साहित्य सर्जना का सविस्तार उल्लेख है। ५५ मौलिक एवं सुसम्पादित ग्रंथों के अतिरिक्त आपके धर्म और दर्शन, इतिहास और पुरातत्व, अनुसंधान और शोध, समाज और संस्कृति तथा पत्रकारिता और अन्य विविध विषयो पर लेख आपके साक्षात कीर्ति स्तम्भ है। और आप की जीवन कायी—साहित्यसाधना को आलोकित करते हैं।

यह ग्रन्थ सभी प्रबुद्ध पाठकों एवं अध्येताओं के लिए सर्वथा उपयोगी, मननीय एवं उपादेय है।

३. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—डा० जगदीश दत्त दीक्षित, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज, नई दिल्ली; पृष्ठ २२३; मूल्य ६० रुपए; प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, १ यू० बी० जवाहरनगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-७.

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने वैदिक वाङ्मय में व्याप्त दो प्रमुख धाराओं और संस्कृतियों (ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति) का संकेत तो किया है किन्तु इन दोनों धाराओं के उद्गम और विकास के विषय मे किसी भी विद्वान् ने विस्तार से लिखने का प्रयास नहीं किया। वैदिक साहित्य के उद्भट विद्वान् डा० जगदीश दत्त दीक्षित

(शेष पृ० ४८ पर)

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ...

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ...

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ... ...

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर दिल्ली-५३ से मुद्रित।